वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या 1154
काल नं० 42.5.01 करुणा
खण्ड

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

धर्म का आदि प्रवर्तक

लेखक

स्वामी कर्मानन्द जी

प्रकाशक
मन्त्री
"श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला"
प्रकाशन विभाग
श्री भारतीय दिगम्बर जैन संघ
अम्बाला छावनी

मुद्रक
विक्रम (वि० प्रि० व०) लिमिटेड
स्टेशन रोड, सहारनपुर

प्रथम संस्करण १००० | जनवरी ४० | मूल्य आठ आने

दो शब्द

बाल्यकाल से वैदिक साहित्य के स्वाध्याय का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण मैं ने उस गहन सागर में अनेक बार गोते लगाये हैं। इस लिये मैं दृढ़ता से कह सकता हूं कि उसमें अनेक ऐतिहासिक मौलिक रत्न प्रचुर मात्रा में छिपे पड़े हैं।

मैं ने इस विषय को वैदिक ऋषिवाद एवं भारत का आदि सम्राट नामक पुस्तक में विस्तार पूर्वक लिखा है। उन्हीं रत्नों में से आज पाठक वृन्द की सेवा में एक रत्न उपस्थित है। मेरा अपना पूर्ण विश्वास है कि यदि प्रयत्न किया जाये तो भगवान अरिष्टनेमी तक सभी तीर्थंकरों के विषय में वैदिक साहित्य से ऐतिहासिक सुन्दर सामग्री उपलब्ध हो सकती है। परन्तु खेद है कि जैन

समाज का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता। प्रस्तुत पुस्तक में अनेक त्रुटियां हैं, यथा।

प्रथम तो मैं इस को क्रमबद्ध सुचारु रूप से नहीं लिख सका अतः इस पुस्तक को मेरी नोट बुक ही समझा जा सकता है।

दूसरे स्वाध्याय के लिए कोई बृहत् पुस्तकालय सम्मुख न होने के कारण मैं इसे यथेच्छ रूप नहीं दे सका।

छपाई तथा प्रूफ आदि कार्य भी मैं बाहर रहने के कारण ठीक तरह नहीं देख सका।

इत्यादि अनेक न्यूनताओं के रहते हुये भी मैं इस को आम लोगों के कर कमलों में पहुँचाने का दुस्साहस करता हूं इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूं। यदि साधन प्राप्त हो सके तो दूसरा संस्करण आपकी सेवा में सुन्दर रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करूंगा।

अन्त में मैं भगवान महावीर के अनन्य भक्त त्यागमूर्ति पर-हित निरत सरलस्वभाव दयासिन्धु श्रीमान भक्त जयचन्द जी सहारनपुर को भी अनेक धन्यवाद देना नहीं भूल सकता जिनकी असीम कृपा से इस पुस्तक को आप तक पहुँचाने में मुझे सब तरह का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है।

—कर्मानन्द

मैं भी कुछ कहूं !

मैं जैन समाज का एक नम्र सेवक और जैन धर्म का एक साधारण विद्यार्थी हूं। लौकिक वीरता को धीरे धीरे आत्मिक वीरता में परिणत करने की जो साधना जैन धर्म में है, उसने उसे कल्पना और किताब के क्षेत्र से उठा कर जीवन का धर्म बना दिया है। जीवन का यह धर्म मर्दुमशुमारी के रजिष्टरों या दूसरी संकीर्णताओं में बन्धा हुआ है, यह माननेसे मैं इंकार करता हूँ—जीवन का धर्म, अर्थात् संसार के जीवन का धर्म ! जैन धर्म ने जीवन का विचार मनुष्य पर समाप्त नहीं किया, उस से आगे प्राणी और उसमें भी आगे जड़ जगत तक उसे पहुंचा कर, जीवन को विश्व का जीवन घोषित करके सम्पूर्ण संकीर्णताओं पर मनुष्यता की विजय घोषित की है। जैन धर्म की भाषा में मनुष्यता का आखरी दर्जा 'दिगम्बरत्व' है, पर दिगम्बर और नंगापन क्या एक ही चीज़ हैं ? कुछ लोगों ने विदेशों के नंगा आन्दोलन और जैन दिगम्बरत्व को एक ही माना, है पर यह अज्ञानता का एक भयकर उदाहरण है। 'दिगम्बर' का अर्थ है दिशाओं के वस्त्रवाला और सार है यह कि जीवन का सम्पूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर विराट विश्वके जीवन के साथ एक रस हो जाना। नग्नता विलासिता की एक रंगरेली है और दिगम्बरत्व साधनाकी सीमा !

यह साधना चिर है, चिरन्तन है—दूसरे शब्दों में जहां तक मनुष्य अतीत में पहुँच सका है, उससे पुरानी है। मनुष्यता की

यह साधना किसी मनुष्य या गिरोह की नहीं है—सारे संसार की है, इस पर सब का समान अधिकार है। यहाँ यह प्रश्न है कि इस साधना की प्रवृत्ति का आरम्भ कहां से है? यह प्रश्न साम्प्रदायिक कतई नहीं है, धार्मिक भी उतना नहीं है, ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक प्रश्नों की विवेचना का ढंग भी ऐतिहासिक ही होता है।

यह एक महत्वपूर्ण बात है और हमें इस पर पूरी तौर से विचार करना चाहिये। हमारी बहुत सी धार्मिक परम्परायें हैं—बहुत से धार्मिक विश्वास हैं। हमारा धार्मिक मन उनके खिलाफ कुछ नहीं सुनना चाहता, या कम से कम किसी भी प्रश्न पर उसी दृष्टिकोण से विचार करना चाहता है। ऐतिहासिक विवेचना का ढंग अनेकबार इस दृष्टिकोण के साथ मेल नहीं खाता और बहुत से मौकों पर उसके विरोध में भी जाता है। इस विरोध से हमें डरना नहीं है।

भारतीय इतिहास अभी एक अधूरी चीज़ है। ज्ञान और दर्शन और कला की जन्म भूमि भारतवर्ष के विद्वानों के लिये यह संकोच जनक है, पर सचाई यही है। हाँ, यह प्रगतिशील है और इसमें नित नूतन खोज होरही है। आज इतिहास का विवेचन यदि हमारे किसी धार्मिक विश्वास के विरुद्ध जाता है, तो हम क्यों डरें? कल की खोज सम्भव है उसका समर्थन करेगी और भविष्य की खोज यदि उसे मिथ्या सिद्ध करदे, तो हमें उस विश्वास में परिवर्तन करने में भी नहीं झिझकना चाहिये। संक्षेप में ऐतिहासिक प्रश्नों की खोज बीन ऐतिहासिक ढंग से ही होनी चाहिये।

तो यह भी एक ऐतिहासिक प्रश्न है कि जीवन की—मानवता की इस साधना का आरम्भ कहां है?

हम सब के आदर-भाजन और अपने क्षेत्र के विख्यात विद्वान श्री स्वामी कर्मानन्द जी ने अपनी इस पुस्तक में इसी प्रश्न की

ऐतिहासिक विवेचना की है। मैंने कहा कि भारतीय इतिहास अधूरा है, तो उसकी खोज भी अधूरी है, पर इतना मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूं कि श्री स्वामी जी ने अब तक की खोज का इसमें बहुत सुन्दर उपयोग किया है और उस उपयोग पर मौलिक ऊहापोह करके इस प्रश्न को काफी दूर तक सुगम बना दिया है। स्वामी जी की शैली की यह खूबी है कि वे पेशेवर प्रचारकों की तरह अपना मत पाठकों के सिर पर नहीं लादते, वे अपने विषय की खोज कुछ ऐसी सादगी के साथ सामने रख देते हैं कि पाठक को राय बनाने में पूरी मदद मिल जाती है, और उस पर उस मदद का भार भी नहीं पड़ता! इसी शैली में श्री स्वामी जी 'वैदिक ऋषिवाद' और 'भारत का आदि सम्राट्' नामक दो पुस्तकें और प्रकाशित कर चुके हैं। उन में आपने अनेक परम्पराओं और विश्वासों का खण्डन करके नई विचार धारा की स्थापना की है और निकट-भविष्य में ही आप की कुछ और पुस्तकें भी सामने आने वाली हैं। आप के अध्ययन की यह खास बात है कि उस की प्रगति वैदिक और जैन साहित्य में समान रूप से है और आप दोनों की तुलना करके अपना निष्कर्ष निकालते हैं। मेरा विश्वास है कि श्री स्वामी जी के इस कार्य से हमारे साहित्य को कीमती रत्न प्राप्त हुए हैं और उसका गौरव बढ़ा है।

इस बहु मूल्य साधना के लिए मैं श्री स्वामी जी का अभिनन्दन करता हूं इस आशा के साथ कि हमारे साहित्य के पारखी इस का सम्मान करेंगे।

विशालचन्द जैन

(बी० ए०, एल-एल० बी०
आनरेरी मजिस्ट्रेट)

सहारनपुर
बसन्त पंचमी १९९६

卐

ऋषभदेव और वेद

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः ॥
अथर्ववेद कां० १९ । ४२ । ४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप, श्री वृषभदेव का मैं आवाहन करता हूं । वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें । यह मन्त्र इतना स्पष्ट है कि इस में अब सन्देह को कोई स्थान ही नहीं रहता ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजुर्वेद अ० ३१ मं० १८

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो कि अज्ञानादि अन्धकार से पृथक है, तथा सूर्य के समान तेजस्वी है। उसी को जान कर जीव मृत्यु से पार हो सकता है। इस जीव की मुक्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

हम इसी के साथ एक श्लोक श्री ऋषभदेव जी की स्तुति का जैन ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं, ताकि पाठकवृन्द दोनों का मिलान करके देख सकें कि वास्तव में भेद है अथवा सम्प्रदायों के द्वेषवश भेद पड़ा हुआ है।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसमादित्य वर्णममलं तमसःपरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं नान्यःशिव शिवपदस्य मुनींद्रपंथा।

अर्थात्—हे श्री ऋषभदेव भगवान्! आपको मुनि लोग परम पुरुष कहते हैं। तथा च आप मल रहित और अज्ञानादि अन्धकार से दूर हैं। आप सूर्य समान तेजस्वी हैं। हे मुनीन्द्र, मुक्ति को प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

यह भक्तामर का श्लोक है यह श्रीमान तुंगाचार्य की रचना है। इस स्तोत्र में ४८ श्लोक हैं। सभी श्लोक वेदों के मूल मन्त्रों से मिलान खाते हैं। विस्तार भय से यहां नहीं लिखे जाते। पाठक इससे इस परिणाम पर अवश्य पहुँचेंगे कि वैदिक स्तुति और यह भक्तामर की स्तुति एक ही वस्तु को सन्मुख रख कर लिखी गयी हैं। वह व्यक्ति चाहे काल्पनिक हो अथवा ऐतिहासिक यह प्रश्न यहां नहीं है। अब हम आप के सन्मुख दो अन्य श्लोक रखते हैं।

स्वयं भुवा भूत हितेन भूतसं, समञ्जस ज्ञान विभूति चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः॥ १॥

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ २ ॥

ये श्लोक स्वयंभू स्तोत्र के हैं। यह स्तोत्र श्री समन्तभद्राचार्य विरचित है। श्री समन्तभद्राचार्य जी महाराज इस युग के एक परम तार्किक उद्भट विद्वान हुये हैं।

इन श्लोकों का भाव यह है कि जो स्वयं भुवा, अर्थात् बिना किसी के उपदेश आदि के ही जो स्वयं ज्ञानी हुये, तथा जिन्हों ने सम्पूर्ण प्राणीमात्र को मुक्ति का मार्ग बतलाया। जिनके सम्पूर्ण पदार्थों के साक्षात्कार की दृष्टि विद्यमान है। तथा जिन्हों ने चन्द्रमा की किरणों के समान रत्नत्रय से सम्पूर्ण आवरण दूर कर दिये हैं। ऐसे श्री ऋषभदेव जी महाराज प्रथम तीर्थंकर हैं॥ १ ॥

जो इस (अवसर्पिणी) काल के प्रथम राजा हैं। जीने की इच्छा रखने वाली प्रजा को जिन्हों ने प्रथम ही खेती, व्यापार आदि की शिक्षा देकर उनका उपकार किया। उसके पश्चात् आप को इस असार संसार से वैराग्य होगया और आपने बन का मार्ग लिया। वहाँ घोर तप करके आपने सम्पूर्ण मलों तथा दोषों को विध्वंस कर, जीवनमुक्त पद प्राप्त करके जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया॥ २ ॥

अथर्ववेद के मन्त्र में भी प्रथम राजा लिखा है। तथा जैन शास्त्रों में भी यही कथन है।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्र जिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कै।
ऋ० मं० १ सू० १९० मं० १

अर्थात्—मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य, ऋषभ को पूजा

साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
ऋ० २। ३३। १५

यह रुद्र सूक्त है इस में रुद्र महादेव की महिमा का वर्णन है। वैदिक कालमें शिव का वर्तमान रूप नहीं था। रुद्र शिव आदि सभी उस ब्रह्मा प्रजापति के नाम हैं जिन्हों ने प्रारम्भ में उपदेश दिया था। उसी व्यक्ति का यहां वर्णन है। यह रुद्र और श्रीऋषभ-देव जी आदि एक ही हैं। (सम्पूर्ण सूक्त देखने योग्य है) हम ने जो मन्त्र दिया है उसका अर्थ है—

हे शुद्ध, दीप्तिमान, सर्वज्ञ, वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों। इसी सूक्त के मत्र १३ में आया है कि

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयो भु।
यानि मनुवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥१३॥

अर्थात्—हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु ने चुना था, वही सुखकर और भय-विनाशक औषधि हम चाहते हैं।

ये मनु स्वयं श्री ऋषभदेव ही हैं। यह हम 'भारत का आदि सम्राट' नामक अपनी पुस्तक में अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं। अतः यहाँ श्री ऋषभदेव जी का ही वर्णन है।

यह औषधि क्या है इसका भी कथन इसी सूक्तमें आया है—

श्रेष्ठो जातस्य रुद्रः श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि ॥३॥

अर्थात्—हे वज्रसंहनन रुद्र, तू सम्पूर्ण उत्पन्न हुये पदार्थों में अधिकतर शोभायमान है। तथा सब से श्रेष्ठ है, सब बलवानों में अधिक बलवान है। इस लिये आप हमको (अंहसः पारं) पापों से पार उतारो, तथा क्लेशों के आक्रमणों से युद्ध करता हुआ मैं विजयी बनूं ऐसी कृपा करो। मंत्र २ में स्पष्ट है कि (भेषजेभिः व्यस्मद् द्वेषो) अर्थात् औषधियों से हमारा द्वेष दूर करो। अतः स्पष्ट होगया कि यहाँ औषधि से अभिप्राय आत्मिक चिकित्सा से है, जिस के एकमात्र वैद्य उस समय श्री ऋषभदेव जी ही थे।

तथा च, ऋ० मं० ३ सू० २६ में है—

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोजस्रो धर्मो हविरस्मिनाम ॥७॥
त्रिभिः पवित्रैरपुपोध्यर्कं हृदामतिं ज्योतिरनुप्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादि द्यावा पृथिवीपर्यपश्यत् ॥८॥

अर्थात—मैं अग्नि जन्म से ही (जात वेद) सर्वज्ञ हूं। (घृतं) ज्ञान प्रकाश ही मेरा नेत्र है। मेरे मुख में अमृत है अर्थात् मेरा उपदेश मोक्षफल दाता है। तीन (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) मेरे प्राण हैं। मैं अन्तरिक्ष आदि सम्पूर्ण लोकों का ज्ञाता तथा अक्षय हूं ॥ ७ ॥

अन्तः करण द्वारा मनोहर शुद्ध आत्मज्योति को जान कर तीन पवित्ररूप साधनों से पूजनीय आत्मा को शुद्ध किया है। अग्नि ने अपने ही स्वरूप से अपने को शुद्ध किया था तथा दूसरे ही क्षण उस ने द्यावा पृथ्वी के सम्पूर्ण पदार्थों को जाना था अर्थात् प्रत्यक्ष देखा था।

इन मन्त्रों में स्पष्ट रूप से श्री ऋषभदेव जी का वर्णन है। इन मन्त्रों में आये हुये (त्रिभिः पवित्रैः) आदि शब्दों का अर्थ भाष्यकारों ने अग्नि, वायु, सूर्य रूप किया है, परन्तु वे भूल जाते हैं कि इन जड़ पदार्थों से आत्मा की शुद्धि नहीं हुआ करती। इस लिये यहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूपी तीन पवित्र साधनों का ही कथन है। इसके सिवा अन्य कुछ अर्थ संगत नहीं होता। तथा च मन्त्र सात में स्पष्ट त्रिधातु शब्द आया है। जिस के अर्थ त्रिरत्न हैं। ये ही जैन धर्मके प्रसिद्ध तीन रत्न हैं। तथाच ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम मन्त्र में ही अग्नि का विशेषण है (रत्न धातमम्) अर्थात् उत्तम रत्नों के धारण करने वालों में श्रेष्ठ। तथाच मन्त्र ८ में है कि (राजन्तमध्वराणाम्) अर्थात् अहिंसकों में सुशोभित। तथा (वर्धमानं स्वे दमे)। अपने अन्दर ही उन्नति कारक। इन सब विशेषणों से ज्ञानी अग्नि का बोध होता है। तथा यहां रत्न का अर्थ वही हो सकता है जिससे अपने अन्दर अपनी उन्नति हो वह रत्न आत्मस्वरूप सम्यग्दर्शन आदि ही है। इस भाव को न समझ कर भाष्यकारों ने असंगत अर्थ करने की चेष्टा की है। अतः यहां अग्नि शब्द का अर्थ प्रथम ब्रह्मा ही ठीक है।

तथाच, ऋ० मं० ६ सू० १६ में है कि—

त्वामीले अध द्विता भरतो ॥ ४ ॥

अर्थात्—भरत महाराज ने इस अग्नि की दो प्रकार से पूजा की थी। यहां भाष्यकार भरत महाराज का अर्थ दुष्यन्त पुत्र भरत करते हैं, यह ऐतिहासिक भूल है। इस का पूरा विवेचन हम 'भारत का आदि सम्राट' नामक पुस्तक में कर चुके हैं। यहां भरत से

अभिप्राय श्री ऋषभदेव जी के पुत्र से ही है। सब से प्रथम इन्होंने ही ऋषभदेव जी की दो प्रकार से पूजा की थी।

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता स्या धियो अभवो दस्म होता।
ऋ० मं० ६। १। १

अर्थात्—हे अग्नि आप ही प्रथम उपदेशक हैं। अथर्ववेद में श्री ऋषभदेव जी को प्रथम राजा कहा गया है। तथा यहां उन को प्रथम उपदेशक लिखा है। 'जैनसूर्यप्रज्ञप्ति' में भी श्री ऋषभदेव जी का प्रथम राजा तथा प्रथम उपदेशक और प्रथम तीर्थंकर लिखा है।

इसी सूक्त के मं० ८ में है कि—

विशां कविं विशपतिं शश्वतीनां निनोशनं ऋषभं चर्षणीनाम्।

अर्थात—नित्य स्वरूप, प्रजा के स्वामी, (विशां कविं) सर्वज्ञ, कामादिक शत्रु विनाशक सर्व कामनाओं से दूर, मनुष्यों में प्राप्तव्य, शुद्धता विधायक, तेजस्वी श्री ऋषभदेव का हम लोग स्तवन करते हैं।

अग्नि रिद्धि प्रचेता अग्निर्वेध स्तम ऋषि।
अग्नि होतार मीडते यज्ञेषु मनुषो विशः॥
ऋ० मं० ६। सू० १४। २

एक मात्र अग्नि ही सर्वोत्तम ज्ञान से युक्त हैं। वे सब कार्यों के निर्वाहक और सर्वज्ञ हैं। मनु की प्रजा इस अग्नि की स्तुति करते हैं। यही अग्नि ब्रह्मा ऋषि है। तथा च—

ऋ० मं० ६ सू० २६ में ऋषभ राजा का उल्लेख है। जिसकी

युद्ध में इन्द्र ने सहायता की थी।

युध्यन्तं ऋषभं दशद्युम्।

अर्थात्—हे इन्द्र जब वृषभ राजा ने शत्रुओं से दस दिन तक युद्ध किया था तब आप ने उन की रक्षा की थी। यहां भाष्यकार वृषभ का अर्थ वृषभ राजा ही करते हैं। ये वृषभ राजा कौन थे यह विचारणीय है। तथाच—

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय।

ऋ० मं० १० सू० १८७

अर्थात्—तेजस्वी वृषभदेव के लिये स्तुति प्रेरित करो।

यही मंत्र अथर्व में भी है।

अधक मन्त्रों योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासु भ्राजमानो देव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥

अथर्व० कां० ५। सू० १। १

अर्थात्—जो अपने प्रथक मन्त्रों (विचार) वाला, अमर प्राण वाला, बढ़ता हुआ अच्छे जन्म वाला, दिनों की तरह चमकने वाला योनि में आता है। उस धारण करने वाले त्रित ने तीनों को धारण किया।

आ यो धर्म्माणि प्रथमः ससाद, ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशा यो वाचमनु दितां चिकेत॥ २॥

अर्थात्—जिसने प्रथम ही स्वयं धर्म्मों को धारण किया तथा

पुनः प्रजा को उपदेश दिया। उस ने ही सब से पहिले भाषा का आविष्कार किया तथा फिर वह (योनिं) उत्तर वेदी में प्रवेश कर गया।

इन मन्त्रों के भाष्यकारों ने लिखा है कि ये मन्त्र अति क्लिष्ट हैं, इन का अर्थ कुछ समझ में नहीं आया। उस का कारण यही प्रतीत होता है कि प्रथम मन्त्र में, तीन को धारण किया यह लिखा है, इस का क्या अर्थ हो! यही उन को भ्रम में डाल रहा है। यदि यहाँ पूर्वोक्त तीन रत्न अर्थ किये जायें तो सुन्दर संगति लग सकती है। ये दोनों मन्त्र धर्म्म तथा भाषा के आदि प्रवर्तक का कथन कर रहे हैं।

यहां हम ने योनि का अर्थ उत्तर वेदी किया है।

योनिर्वा उत्तर वेदिः

शत० ७।३।१।२८

ऐसा स्पष्ट है, उत्तर वेदि का अर्थ द्यौ अर्थात् हिमालय का उच्चतम भाग है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि वे ज्ञानी होने के पश्चात् तप करने के लिये कैलाश पर चले गये थे।

इस द्यौ के अर्थ को हम ने 'भारत का आदि सम्राट' नामक पुस्तक में विस्तार पूर्वक लिखा है।

पुराना धर्म

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेहनाकं महिमानः स चन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः ॥
ऋ० मं० १ सू० १६४ । ५० अथर्ववेद कां० ७ सू० ५।१

अर्थात्—पूर्व समय में देवों ने ज्ञान से यज्ञ किया । क्योंकि प्राचीन समय का यही धर्म था । उस ज्ञान यज्ञ को महिमा स्वर्ग में जहां पहले साधारण देव रहते थे पहुंची । अथर्ववेद में आगे लिखा है कि वह ज्ञान-यज्ञ यहाँ (भारत में) इतना उन्नत हुआ कि वह देवताओं का अधिपति होगया । इसके पश्चात् यहां—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्तिनु तस्मादो जीयो यद् विहव्येन जिरे ॥

जब यहां देवों ने हवि रूप द्रव्य यज्ञ फैलाया तो भी यहाँ ज्ञान-यज्ञ (भावयज्ञ) ही मुख्य था परन्तु हवि यज्ञ के अर्थ मूर्ख देवों ने कुछ और ही समझ लिये। इस लिये—

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोभिरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसाचिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

उन्हों ने पशुओं से यज्ञ करना आरम्भ किया। यहीं तक नहीं अपितु गौ तक के अंगों से भी यज्ञ करने लगे। यह कितना सुन्दर इतिहास है। पूर्व समय हिरण्यगर्भ प्रजापति ने ज्ञानयज्ञ प्रचलित किया था, यह यहाँ स्पष्ट है। उस ज्ञानयज्ञ का प्रचार भारत में ही नहीं अपितु सर्वत्र फैल गया। इस के पश्चात् द्रव्य यज्ञ का आविष्कार हुआ और वह भी अहिंसा प्रधान। परन्तु मूर्ख देवों ने इस के उल्टे अर्थ लगाये और पशु आदि का यज्ञ होने लगा। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि सब से प्रथम ज्ञान यज्ञ अथवा भाव यज्ञ (भाव पूजा) का ही आविर्भाव हुआ था। उसी भाव पूजा को योग धर्म के नाम से कहा जाता है। वर्तमान पातञ्जल योग, शुद्ध योग का ग्रन्थ नहीं है अपितु सांख्य मिश्रित योग शास्त्र है।

पुरातन योग शास्त्र तो गीता के कथनानुसार बहुत पहले ही नष्ट हो चुका था—

स चायं दीर्घकालेन, योगो नष्टः परंतपः। गीता।

तथाच वर्तमान योग के भाष्यकारों ने अन्त में लिखा है कि—

योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने।

यहां "सांख्यप्रवचने" इस विशेषण से स्पष्ट है कि सांख्य के

आधार के अलावा भी योगशास्त्र यहां था। और वह था हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का बनाया हुआ योगशास्त्र। अथवा किसी अन्य नाम से इस विषय का ग्रन्थ। हम अपनी पुष्टि में यजुर्वेद का प्रमाण उपस्थित करते हैं—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३१ में आया है। इस का भाष्य करते हुये भाष्यकार श्री महीधर लिखते हैं कि—

यज्ञेन मानसेन संकल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त।

अर्थात् देवो ने मानस संकल्परूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की। बस हमारा अभिप्राय सिद्ध होगया कि इन वर्तमान वेदों से पहले जो धर्म थे वे भावपूजक धर्म थे। तथा च इसी अध्याय के मन्त्र १४ का भाष्य करते हुये श्री महीधर लिखते हैं कि यहां मन्त्रों का सिलसिला ठीक नहीं है। मन्त्रों का क्रम ऐसा होना चाहिये था। तथा च इसी अध्याय के मन्त्र १४ का भाष्य करते हुये श्री महीधर लिखते हैं कि यहां मन्त्रों का सिलसिला ठीक नहीं है। मन्त्रों का क्रम ऐसा होना चाहिये था कि मन्त्र १४ के पश्चात् मन्त्र ९ 'तं यज्ञं' यह होना चाहिये था। तथा इस के पश्चात् मन्त्र ६ 'तस्माद्यज्ञात्" यह मंत्र होना चाहिये था। तत्पश्चात् मन्त्र १५ होना ठीक था। जो कुछ भी हो चारों वेदों में यह क्रम का व्यतिक्रम प्रत्यक्ष है। परन्तु धर्मान्ध लोगों को कौन कहे ?

अब अन्य मंत्रों के भाष्य में महीधर ने क्या लिखा है यह भी पठनीय है।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये ॥

यज्ञं यज्ञ साधन भूतं तं पुरुषं बर्हिषि मानसे यज्ञे (प्रौक्षन्) प्रौक्षितवन्तः । तेन पुरुषरूपेण यज्ञेन मानसयागं निष्पादितवन्तः के ते देवा, ये साध्याः. सृष्टि साधन योग्या–प्रजापति प्रभृतयः । ये च तदनुकूला ऋषयः ।

अर्थात्—यज्ञसाधनभूत पुरुष रूपी यज्ञ से देवों ने मानस यज्ञ निष्पन्न किया । वे देव प्रजापति आदि तथा उन के अनुकूल ऋषि आदि थे । यही भाव मन्त्र १४ के भाष्य में है । तथा मन्त्र १५ में भी महीधर ने विस्तार पूर्वक इस मानस यज्ञ का वर्णन किया है । इस के पश्चात्—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः

यह मन्त्र है । बस गीता महाभारत, पुराण तथा वेद और सम्पूर्ण जैन साहित्य इस की साक्षी देता है कि वर्तमान नवीन वेदों से पहिले जो यहां धर्म था वह वर्तमान याज्ञिक धर्म से भिन्न आत्मवाद का धर्म था । उस का नाम योगमार्ग अथवा मोक्षमार्ग किंवा जिनमार्ग आदि आप कुछ भी रखलें । वर्तमान योग दर्शन भी नवीन योगमार्ग है वह तो नष्ट हो गया ? जैसा कि गीता में कहा है ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः ।

अर्थात्—यह योग दीर्घ काल से नष्ट हो चुका है ।

यम और श्री ऋषभदेव

इरानी धर्म्म पुस्तक (जिन्द अवस्था में) यम को मित्र लिखा है। तथाच यम को प्रथम राजा एवं धर्म्म और सभ्यता का उत्पादक लिखा है। फारसी के प्रसिद्ध कवि फिरदोसीने अपने शाहन मे में भी इस बात की पुष्टि की है। अतः उन के मतानुसार यम अथवा (उन्हीं का दूसरा नाम) मित्र प्रथम सम्राट तथा सभ्यता एवं धर्म्म के संस्थापक थे। तथाच अवस्था में लिखा है कि सदाचारी मनुष्य मित्र का और मित्र के साथ "अहुरमज्द" का भी दर्शन करते हैं। जिस प्रकार वैदिक साहित्य में यम के पिता का नाम विवस्वान है उसी प्रकार अवस्था में "विवन्वत्" है। जिस प्रकार ऋग्वेद की यमपुरी में धर्म्मात्मा निवास करते हैं उसी प्रकार अवस्था की यमपुरी में भी।

क्षत्र वै यमो विशः पितरः। शतपथ। ७। १। १। ४

यमो वैवस्वतो राजेत्याह। शत० १३। ४। ३। ६

इदं सर्वं यमयीत। एतेनेदं सर्वं यतम्। १४। १। ३। ४

यमो हवा अस्याः पृथिव्याः अवसानस्येष्टे। शत० ७।१।१।३

यमी इयं पृथ्वी यमी। शत० ७। २। १। १०

अर्थात्—क्षत्री, जो विश (प्रजा) का स्वामी है वह यम है। तथाच विवस्वान का पुत्र यम राजा है। जो इस सब प्रजा को नियम में चलाता है अथवा जिस से पूर्व समय में नियमित किया गया वह यम है। यम इस सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी है। पृथ्वी का अर्थ भारतवर्ष है, यह हम 'भारत का आदि सम्राट' नामक पुस्तक में विस्तार पूर्वक सिद्ध कर चुके हैं। इसी लिये इस भारतवर्ष का नाम यमी भी था। जैसा कि कहा है कि यह पृथ्वी यमी है।

मित्र शब्द का अर्थ

यम के साथ साथ ही मित्र शब्द के अर्थ पर भी ध्यान कर लेना चाहिये।

(१) मित्रः क्षत्रं क्षत्रपतिम्। शत० ११। ४। ३ ११

(२) मित्रो वै दक्षिणः वरुणः सव्यः। तै० ब्रा० १।७।१०।१०।१

(३) अयं वै (पृथ्वी) लोको मित्रोऽसौ (द्युलोकः) वरुणः।

शत० १२। ९। २। १२

(४) द्यावा पृथ्वी वै मित्रा वरुणयोः प्रियं धाम।

तां० ब्रा० १४। २। ४

अर्थात्—मित्र, क्षत्री, तथाच क्षेत्रपति का नाम है। (२) दक्षिण का नाम मित्र और मध्य का (उत्तर का) नाम वरुण है। यह पृथ्वी (भारत) मित्र का और द्युलोक (इलाव्रत) वरुण का धाम है। पृथ्वी का अर्थ भारतवर्ष तथा द्युलोक का अर्थ हिमालय का उत्तरीय प्रान्त है यह हम सप्रमाण विस्तार पूर्वक 'भारत का आदि सम्राट पुस्तक' में लिख चुके हैं।

यहां भी यह सिद्ध होता है कि हिमालय के दक्षिण प्रान्त का स्वामी मित्र था। तथा उस के उत्तरीय भाग का स्वामी वरुण था। यही बात यम के लिये भी लिखा है। दक्षिण भाग को यम देवता लिखा है अर्थात् दक्षिण भाग का स्वामी यम है। इन स्थानों में दक्षिण दिशा का अर्थ है हिमालय का दक्षिण भाग, परन्तु भूल से सभी विद्वानों ने यहाँ दक्षिण दिशा का अर्थ सूर्य की अपेक्षा से लगा लिया और मद्रास प्रान्त इन शब्दों का अर्थ कर दिया। वास्तविक अर्थ यही है जो हमने किया है। विशेष के लिये 'भारत का आदि सम्राट' देखना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि यम और मित्र शब्द एकार्थक हैं यह वैदिक साहित्य से भी सिद्ध है तथा "जिन्द अवस्था" में भी यही कथन है। हम अग्नि के नामों में यम और मित्र नाम भी दिखा चुके हैं और यह सिद्ध कर चुके हैं कि ऋषभदेव और अग्नि प्रजापति परमेष्ठि आदि शब्द एकार्थक हैं। अतः यम और मित्र भी उन्हीं श्री ऋषभदेव के हैं। तथाच यम विवस्वान् का पुत्र है और विवस्वान् अन्तिम मनु है। इसी प्रकार श्री ऋषभदेव जी भी अन्तिम मनु (कुलकर) के सुपुत्र हैं। पारसिकों की प्राचीनतम पुस्तक ने भी इसी की पुष्टि की है जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं।

यमयमो सूक्त

श्रीमान् पंडित चमूपति जी ने "यमयमो सूक्त" पर "आर्य" मासिक और वैदिक "मेगजीन" में बड़ा विस्तृत, मनो-रंजक और गवेषणापूर्ण लेख लिखा है। इस लेख में पं० जी ने *निम्न लिखित बातें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—*

१ इन मंत्रों के (इस सूक्त के) आधार पर यम और यमी को भाई बहन नहीं माना जा सकता।

२—मंत्र में कहे "(गर्भे) गर्भ में" शब्द का अर्थ 'माता के गर्भ में' ऐसा नहीं है प्रत्युत 'उत्पत्ति के पूर्व ऐसा है।

३—इस सूक्त में यम यमी का तात्पर्य भाई बहन नहीं है प्रत्युत पति-पत्नी है। अर्थात् यह भाई बहन का संवाद नहीं है

प्रत्युत इस सूक्त में विवाहित पति पत्नी का संवाद है।

४—यम यमी ये विवाहित स्त्री पुरुष थे। पुरुष सर्वसंगपरित्याग करने लगा, उस समय वह अपनी पत्नीको नियोग की आज्ञा देता है।

५—(भ्राता) भाई, इस शब्द का अर्थ इस सूक्त में (भर्ता) पति है।

६—सारे सूक्त में दांपत्य की ध्वनि है, भाई बहिन के संवाद की नहीं।

श्री पं० चमूपति जी के सारे लेख का सार यही है। अब विचार करना है कि यह सत्य है वा असत्य।

प्राचीन मत से विरोध

पं० चमूपति जी ने अपने लेख में जो सिद्ध करने का आग्रह दिखाया है वह इस समय तक किसी ने भी माना नहीं है।

१—वृहद्देवता ग्रंथ बड़ा प्राचीन और प्रामाणिक है उसमें यम यमी को भाई बहिन ही माना है।

२—यास्काचार्य भी अपने निरुक्त में वह भाव ध्वनित करते हैं, इसी लिये पं० चमूपति जी ने भी लिखा है कि "यास्क भी सायण का साथ देता प्रतीत होता है। (आर्य पृ० २१)"

३—सायन आदि तो स्पष्ट ही यम यमी को भाई और बहिन ही मानते हैं। क्यों कि वे पूर्व परंपरा को स्थिर रखते हैं।

सायण को हम अपने आधार के लिये न भी स्वीकृत करें तो भी वृहद्देवता कार तथा यास्काचार्य निरुक्तकार ये बड़े प्रामाणिक व्यक्ति ऐसे नहीं हैं कि जिनका निराकरण यौंही किया जा सके है।

ब्राह्मण ग्रंथों में "यम और यमी" शब्द अनेक स्थान पर आगये हैं, उनमें भाई बहिन, पुत्र माता, आदि संबंध प्रसंगानुसार वर्णन किया है। एक ही पदार्थ की ओर विभिन्न दृष्टि से कवि लोग देखते हैं, इस लिये यदि किसी स्थान पर भाई बहिन की कल्पना किसी ने की, तो दूसरे स्थान पर पुत्र और माता की कल्पना की, तो कोई दोष नहीं है। इस विषय मे उषा और सूर्य का दृष्टांत देखने योग्य है। कई स्थानों पर उषा का पुत्र सूर्य कहा है, कई स्थानों पर उषाका जार, उषा का पिता आदि वर्णन है। वह सब काव्य दृष्टि से देखना चाहिये। वास्तव में सूर्य के स्थान में पिता पुत्र आदि की कल्पना लाक्षणिक ही है। उसी प्रकार यम यमी के विषय में अग्नि तथा पृथ्वी की कल्पना भी लाक्षणिक है, अत: उस से यम यमी को भाई बहिन मानने में अवश्य ही विरोध होता है, ऐसा कहा नहीं जा सकता। प्रत्युत ब्राह्मण ग्रंथोंके अन्यत्र कथनानुसार अग्नि सूर्यका पुत्र और पृथ्वी सूर्य पुत्री है और यदि शत पथानुसार यम यमी अग्नि और पृथ्वी हैं, तो उनका परस्पर संबंध भाई बहिनका भी माना जा सकता है और यदि ऐसा माना गया, तो शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथ बृहद्देवता, निरुक्त और सायन भाष्य इन में परस्पर विरोध बिल्कुल नहीं रहता। शब्दार्थ के विषय में विरोध बेशक रहे, परंतु "यम यमी" ये सहजात भाई बहिन होने में कोई मतभेद ही नहीं।

खोज का महत्व

यहां प्रश्न हो सकता है कि ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रंथों में भी भ्रम हो सकता है, इस लिये उन ग्रंथोंमें लिखी बात जैसी की वैसी हम क्यों मानें? क्या उन के विधानों की अधिक खोज करना पाप है?

इस पर हम कह सकते हैं, कि ऋषि प्रणीत शतपथादि ब्राह्मण हैं और आचार्य प्रणीत निरुक्तादि ग्रंथ हैं। ये ग्रंथ यद्यपि हमारे लिये मार्ग दर्शक हैं, तथापि केवल वह ऋषिका वा महर्षि का वाक्य है, अथवा मुनिका किंवा आचार्य का मत है, इसी लिये सर्वथा आदरणीय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की बौद्धिक गुलामी आर्यों में कभी नहीं थी, और सच्चा आर्य ऐसी गुलामी कभी अपने ऊपर ले भी नहीं सकता इस लिये शतपथादि ब्राह्मणों से लेकर बृहद्देवता तथा निरुक्तकार तक की मानी हुई बात—कि यमयमी ये आपस में भाई बहिन ही हैं—श्री पं० चमूपति जी ने स्वीकृत नहीं की, और अपनी खोज आगे बढ़ाई इस लिये हम उनका धन्यवाद गाते हैं। खोज सत्य हो वा असत्य, बौद्धिक गुलामी वृत्ति को हटा कर आगे बढ़ाने से ही जनता का हित होता है।

केवल शतपथ में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है इस लिये उस को आंख बंद करके स्वीकार करना कदापि योग्य नहीं है। परीक्षा की भट्टी में उसको तपाकर शुद्ध है वा अशुद्ध है, इसका अवश्य निर्णय करना चाहिये।

खोज की सचाई

इसके पश्चात् "खोजकी सचाई" की भी खोज होनी चाहिये वह सचाई की परीक्षा आंतरिक प्रमाणों पर निर्भर है। प्रकृत प्रसंग में यम यमी भाई बहिन हैं ऐसा निरुक्तकार तक के ऋषि मुनियों ने माना है, श्री पं० चमूपति जी ने उनको पति पत्नी सिद्ध करने का आग्रह किया है। इनमें से कौनसा पक्ष ठीक है और कौनसा ठीक नहीं है, ऐसा विचार करने के समय स्वयं यमयमी सूक्त क्या कहता है इस पर अंतिम निर्णय होना संभव है। हमारे

विचार से पं० चमूपति जी का मत यमयमी सूक्त के आंतरिक प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, इस लिये केवल खोज करने के यत्न के लिये उनको धन्यवाद देने पर भी खोजकी असत्यता के कारण उनके मतको स्वीकार किया नहीं जा सकता।

यमयमी का अर्थ

यमयमी का अर्थ क्या है इस विषय मे पं० चमूपति जी ने बड़े विस्तार से अवतरणिका मे लिखा है—

यम। यमी। (सूक्तकी देवता)

अग्नि। पृथ्वी। (श० ब्रा० ७। २। १ १०

(भाई [युगल] बहिन) वृहद्देवता ७। १६३

दिन। रात्री। (मोक्षमुल्लर)

यमयमी के ये अर्थ लें अथवा कोई अन्य अर्थ किये जांय। इन अर्थों के विषय मे कोई विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं है। क्यों कि उक्त शब्दों का कोई भी क्यों न अर्थ हो, उनका पारस्परिक संबंध जो यमयमी सूक्त मे कहा है, वह भाई बहिन का संबंध है, वा पति पत्नीका संबंध है, यही विचारणीय बात है और वह बात शब्दों के अर्थ देखने से ही केवल निर्णीत नहीं हो सकती। देखिये यमयमी का दिन रात्री यही अर्थ लीजिये। दिन और रात्री का संबंध भाई बहिनका भी हो सकता है, क्यों कि विवस्वान सूर्य का पुत्र दिन और पुत्री रात्री है। उनका परस्पर माता और पुत्र का भी संबंध माना जा सकता है। रात्री का पुत्र दिन और दिन की पुत्री रात्री जैसा कवी का विचार और कल्पना हो, वैसा माना जा सकता है। दिन पति, रात्रि पत्नी और चंद्र उनका पुत्र यह भी एक कल्पना है। तात्पर्य कवि कल्पना की आर्ष वाङ्मय मे सीमा

नहीं है। इस कारण प्रकृत विचार मे यमयमी का शब्दार्थ देखने और निश्चित करने का विशेष महत्त्व नहीं ।

विशेष महत्व इस बात का है कि इस सूक्त में दोनों का पारस्परिक संबध किस प्रकार का वर्णित है। इस लिये श्री पं० चमूपति जी के स्वीकृत किये सम्पूर्ण अर्थ मानते हुए भी हम उन के परिणाम से सहमत नहीं होसकते।

यौगिक अर्थ

यमयमी का यौगिक अर्थ 'संयमी' पं० जी ने स्वीकृत किया है। परन्तु ऐसा मानने पर—

यम—संयमी पुरुष (पति या भाई)

यमी—संयमी स्त्री (पत्नी या बहन)

दोनों संयमी होने से इस सूक्त की संगति ही नहीं लग सकती, क्योंकि यमी के नाम पर जो मन्त्र हैं उन में काम विकार भयानक रूप लिये हुये दिखाई देता है। यौगिक अर्थ के पक्ष में दोनों को संयमी मानना पड़ेगा, वह यमी के भाषण में संगत नहीं होता, क्योंकि यमी संयमी दिखाई नहीं देती है। इसलिये इस सूक्त के में यम का अर्थ 'संयमी नहीं है ।

यम का दूसरा अर्थ 'युगल' जुड़े भाई एक योनी से उत्पन्न सहजात भाई" यह है। यही यहां लेना चाहिये। यह अर्थ यम के विषय में जैसा संगत होता है, वैसा ही यमी के लिये यही भाव लेकर वृहद्देवताकार ने वैवस्वत यम यमी की कथा लिखी है।

यम संन्यासी नहीं है

श्री पं० चमूपति जी कहते हैं कि यम संन्यास वृत्ति से प्रभावित है, इस लिये वह संसार दुख से दूर होरहा है, परन्तु यह

उन की निज कल्पना ही है । यमयमी सूक्त में इस के विरुद्ध प्रमाण है—

वतो वतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम । अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १३ ॥

ऋ० १०।१०

यमी कहती है—"हे यम ! तू सचमुच बलहीन है ? तेरे मन और हृदय का हमें पता ही नहीं लगा। कोई अन्य स्त्री तेरा आलिंगन करेगी जैसी पेटी घोड़े का और बेल वृक्ष का।

यहां यमी कहती है कि हे यम ! तेरा मन मुझ पर नहीं है, तू दूसरी ही स्त्री को स्वीकार करेगा और वह स्त्री तुझे आलिंगन देगी।"

इस समय यम को अवसर है, कि वह अपने संन्यास व्रत का निश्चय यमी से कहे, परन्तु वह यमी का कथन अपनी मुग्धता से स्वीकृत करके यमी के ही शब्दों में उत्तर देता है, परन्तु एक भी शब्द से यमी के पूर्वोक्त कथन का निषेध नहीं करता, देखिये—

अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्या वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ।१४।

ऋ० १०।१०

यम उत्तर देता है—'हे यमी ! किसी और को तू , तथा कोई और तुझे आलिंगन करे, जैसे बेल वृक्ष को । तू उस के मन की इच्छा कर, वह तेरे मन की इच्छा करेगा। इस प्रकार तुम दोनों की संगति तू अपने लिये कल्याणकारी कर।'

यह पूर्व मन्त्र में कहे यमी के कथन का उत्तर यम देता है।

इस में वह सन्यास का उल्लेख नहीं करता, वह इतना ही कहता है कि—(जैसा मैं किसी अन्य स्त्री को आलिंगन दूंगा) उसी प्रकार तू भी किसी अन्य को आलिंगन देगी।'

यह मन्त्र देखने से स्पष्ट पता लगता है कि, यम के मन में वैराग्य का लेश भी नहीं है। वह वैराग्य और संन्यास भाव के कारण यमी के साथ सम्बन्ध नहीं छोड़ना चाहता है, अर्थात् यम के निषेध का कारण अन्य है, वह इसी के पूर्व मन्त्र में देखिये—

> न वा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं
> निगच्छात्। अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता
> सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥ ऋ० १०।१०

यम कहता है-मैं तेरे शरीर से अपना शरीर संयुक्त न करूंगा। (यः) जो (स्वसारं) अपनी बहन के पास निगच्छात्) गमन करे, उसे (पापं आहु) पापी कहते हैं। इसलिये मेरे सिवा किसी दूसरे से तू आनन्द कर। तेरा (भ्राता) भाई (न वष्टि यह नहीं चाहता।

इसमें दो वाक्य स्पष्ट हैं—(१) यः स्वसारं निगच्छात् तं पापं आहु अर्थात् जो बहन के पास जाता है उसे पापी कहते हैं।

(२) ते भ्राता एतत् न वष्टि अर्थात् तेरा भाई यह नहीं चाहता।

इन मन्त्रों का दूसरा कोई अर्थ नहीं है। यम अपनी बहन से शरीर सम्बन्ध करना नहीं चाहता। उस ने 'यमी बहन होने के कारण ही शरीर सम्बन्ध का निषेध किया है' न कि स्वयं विरक्त होने के कारण। सम्पूर्ण सूक्त में एक भी शब्द ऐसा नहीं है कि जिससे यम का वैराग्य सिद्ध होजाय। पूर्व स्थान में जो १४ वां मन्त्र दिया है, उस में यम ने योग्य अवसर आने पर भी विवाह निषेध अथवा अपने वैराग्य का उल्लेख नहीं किया है। इतना ही

नहीं, इतना ही नहीं, परन्तु ध्वनित किया है कि 'जैसा मैं दूसरी स्त्री से आनन्द करूंगा वैसा ही तू भी कर' यह उत्तर देखने से और उस के अनुसंधान से इस मंत्र के (यमीस्वसा) यमी बहन तथा (यम भ्राता) इन शब्दों का प्रयोग देखने से स्पष्ट पता लगता है कि यहां भाई बहन के विवाह का निषेध है।

यम-यमी, भ्राता-स्वसा, (भाई बहन)

इस स्थान पर 'भ्राता' शब्द का अर्थ श्री पं० चमूपति जी ने (भर्ता) पति किया है और 'स्वसा' शब्द का अर्थ (अभिसारिका) प्रेमपत्नी किया है, वह न केवल गलत है, बल्कि निराधार भी है। भ्राता और भर्ता ये शब्द एक धातु से उत्पन्न होने पर भी भाई और पति के क्रमशः वाचक हैं। स्वसा शब्द का अर्थ पत्नी नहीं बल्कि भगिनी है।

धात्वर्थ और यौगिक अर्थ की खींचातानी करने से और भ्राता का अर्थ पति करने से कोई विशेषता नहीं होती है। यदि इतना अर्थ खींचना है, तो अर्थ का अनर्थ दूसरा और कोई नहीं हो सकता है। इस प्रसंग में अथर्ववेदीय यमयमीसूक्त में जो दो मंत्रार्ध अधिक हैं, वे भी यहां देखने योग्य हैं—

न ते नाथ यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा सं पपृच्याम। १३।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय। १४।
अथर्व १८। १

यम कहता है—'हे यमी! तेरा मैं (नाथ) नाथ (न अस्मि) नहीं हूं, जो मैं तेरे शरीर से अपने शरीर का सम्बन्ध करूं। मेरे मन और हृदय से यह बिल्कुल प्रतिकूल है जो (भ्राता) भाई होकर (स्वसुः) बहन के (शयने) बिछौने पर (शयीय) सो जाऊं॥

ऋग्वेद के यमयमी सूक्त से अथर्व वेद के सूक्त में ये दो मंत्रार्ध अधिक हैं और विचार करने से पता लगता है कि ये दो मंत्रार्ध संदिग्ध बात अधिक स्पष्ट करने के लिये ही आगये हैं।

(१) [हे यमि! अत्र अहं ते नाथं न अस्मि]—हे यमी! यहां मैं तेरा नाथ नहीं हूँ।

(२) [भ्राता स्वसुः शयने शयीत एतत् मे मनस हृदः च असंयत] भाई बहिन के बिछोने पर सोवे यह मेरे मन और हृदय से विरुद्ध है।

ये मंत्र स्पष्ट बता रहे हैं कि यम और यमी भाई बहिन हैं, न कि पति पत्नी और इसी कारण यम यमी के साथ शरीर संबंध करना नहीं चाहता क्यों कि वैदिक धर्म के अनुसार भाई बहिन का विवाह निषिद्ध ही है।

पं० जी ने ये मंत्र अपने भाष्यमें लिये नहीं हैं। लेते तो भी यहां भ्राता शब्दका अर्थ पति करना उनके लिये कोई अशक्य नहीं था। एक बार दृढ़ मन करके मंत्रों के अर्थ तोड़ मरोड़ करके अपने ढंग से ढालने ही हैं, ऐसा संकल्प जो करेंगे उन के लिये "भ्राता और स्वसा" शब्द कितनी सी रुकावट डाल सकते हैं? शोक हमें इस बात का है कि जिसने वेदके लिये इतना त्याग किया है। वे ही वेदके अर्थ अपने ढंग के अनुकूल ढालने के लिये "भ्राता और स्वसा" तक को इतना पीसने के लिये तैयार हुए हैं!! देखना है कि वेदके लिये ये सज्जन समर्पित होते हैं या वेद इनके लिये समर्पित बनाया जाता है!!! महाभारत में इसी लिये कहा है—

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति
म० भारत आदि० अ० १। २६७

"अल्पश्रुत अर्थात् जिस ने श्रुति का अध्ययन (श्रवण–मनन–निदिध्यासन) नहीं किया, उस पुरुष से (वेदः बिभेति) वेद घबड़ाता है, क्यों कि वेद को यह डर लगता है कि यह अल्पश्रुत पुरुष (मां) मुझे अर्थात् वेद को (प्रतरिष्यति) बिगाड़ेगा"।

यह वेद के मन में डर है। यह डर हमें यहाँ सार्थ और सयुक्तिक प्रतीत होता है, क्यों कि जिस ढंग से विद्वद्वर्य पंडित जी वेद की खोज कर रहे हैं उस ढंग से वेद के शब्दों का अर्थ बिलकुल सुरक्षित नहीं है। "भ्राता" शब्द का अर्थ पति होगया। "स्वसा" शब्द का अर्थ धर्मपत्नी बना दिया, अब केवल "माता" शब्द का यौगिक अर्थ "मान्य करने वाली" है, वह लेकर "पतिके-लिये मान्य करने वाली धर्मपत्नी" इतना ही अनर्थ करना शेष है !!! भ्राता और स्वसाके शब्दार्थ बिगाड़ने से जो डरते नहीं वे "माता" का अर्थ धर्मपत्नी करने से भी डरेंगे क्यों ? धात्वर्थ अथवा यौगिक अर्थ लेकर अर्थ करना तो है, उस का ढंग आजाय या, न आजाय, अपने मन घड़न्त अर्थ को सिद्ध करना है, उस कार्य की पूर्तिके लिये वेदके अर्थ तोड़े और मरोड़े गये, तो इनको पर्वाह कहां है ? थोड़ी भी पर्वाह होती तो इतना अनर्थ ("भ्राता" का अर्थ पति !) कभी न करते। हमें बारंबार आश्चर्य होता है कि इन में इतना साहस कैसे होता है ?

भ्राता और भर्ता

भ्राता शब्द जगत् की कई भाषाओं में है, यूरोप की प्रायः सब भाषाओं में यह गया है, परन्तु किसी भी भाषामें इसका अर्थ पति नहीं है। यौगिक अर्थ देख कर भाव निश्चित करने के लिये इस प्रकार का प्रयुक्त अर्थ का कोई आधार चाहिये। भ्राता शब्द का जिस जिस भाषा में प्रयोग है वहाँ केवल "भाई" यही एक

अर्थ है। पति ऐसा किसी भी भाषा में इस का अर्थ नहीं है

केवल एक धातु से उत्पन्न होने के कारण संपूर्ण शब्दों का एक ही अर्थ नहीं होता। महाराष्ट्रीय पंडित और इतिहास संशोधक महात्यागी सुविज्ञानी श्री विश्वनाथ काशिनाथ राजवाडे महोदय जी ने इसी सूक्त से यह अनुमान घड़ दिया है कि—"वेद के पूर्व समय की जनता में भाई बहिन आपस में शादी करते थे, इस का सूचक यहां का भ्राता शब्द है क्यों कि भ्राता तथा भर्ता ये शब्द एक ही धातु से बनते हैं !!,,

हां इन दोनों लेखों में भिन्नता इस बात की है कि चमूपति जी यम यमी को इसी सूक्त में भी पतिपत्नी सिद्ध करते हैं, परन्तु पं० राजवाड़े जी इसी से पूर्वकालीन बात सिद्ध कर रहे हैं। दोनों ने "भ्राता" शब्द के यौगिक अर्थ का ही प्रमाण अपने आधार के लिये दिया है। भ्राता का अर्थ पति करने से कितना अर्थ का अनर्थ होता है यह यहां देखिये। अस्तु।

यम और यमी भाई बहिन हैं, युगल हैं, एक गर्भ से सहजात भाई बहिन हैं, यही बात इसी सूक्त में यमी ने भी कही है—

गर्भे नु नौ दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
न किरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

ऋ० १०। १०।

यमी कहती है—परमेश्वर ने हमें (गर्भे) गर्भ में ही दंपती बनाया है। उस के नियमों को कोई तोड़ नहीं सकता।

इस मंत्र में (गर्भे नौ दंपती) परमेश्वर ने गर्भ में ही हम दोनों को दंपति बनाया था, यह कहा है क्यों कि एक गर्भ में सह-

जात भाई बहिन ये थे। इस लिये यमी का कहना यह है कि "यदि हमारा विवाह परमेश्वर को मंजूर न होता, तो हमें एक गर्भ में क्यों बनाता ? जिस कारण सर्व सामर्थ्यशाली परमात्मा ने हमें एक गर्भ में रखा, तो उस ने ही गर्भ में हमारा पति और पत्नी का संबंध बना दिया है। परमात्मा के नियम कोई तोड़ नहीं सकता, इस लिये हे यम ! तू उस के नियम न तोड़ और मेरे साथ शरीर सम्बन्ध कर।"

यह कथन स्पष्ट बता रहा है, कि ये सहजात भाई बहिन हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो शब्द के अर्थ ही विपरीत करने पड़ेंगे और यमी के कथन का भाव भी (Force of argument) बिलकुल नहीं रहेगा। "गर्भ" का अर्थ श्री पंडित जी भिन्न ही मानते हैं, वह उन की रुचि और आग्रह है। पूर्वापर संगति देखने से उन को अपनी गलती का पता लग जायगा अब यमयमी विवाहित थी या नहीं, इस का विचार करना है—

यमयमी पतिपत्नी नहीं थे

इस विषय में मंत्र ७ का प्रमाण देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। देखिये वह मंत्र—

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विचिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ११

यमी कहती है—"मुझ यमी को यम का काम हुआ है, एक साथ शयन स्थान में सोने के लिये। जिस प्रकार (जाया) स्त्री अपने (पत्ये इव) पति के लिये अपना शरीर प्रकट करती है, उस प्रकार मैं अपना शरीर प्रकट करूं और हम रथ के चक्रों की तरह

उद्यम करें।"

इस मंत्र में (जाया पत्ये इव) "धर्मपत्नी अपने पतिके लिये जिस प्रकार होती है उस प्रकार मैं यमी तेरे (यमके) साथ रहूं" यह भाव प्रकट होगया है। यदि यमयमी विवाहित पतिपत्नी हैं, जैसा कि पंडित जी मानते हैं, तो जाया पत्ये इव) "पति पत्नी के समान" इन शब्दों की व्यर्थता होगी। जो विवाहित पतिपत्नी अर्थात् दंपति हैं उन को (जाया पत्ये इव) पतिपत्नी समान कहा नहीं जा सकता, क्यों कि वे. स्वयं पतिपत्नी हैं। "घोड़ा घोड़के समान" ऐसी उपमा नहीं होती। जिस अवस्था में जो होगा उसको उसी की उपमा संगत नहीं होती।

यमी प्रस्ताव कर रही है और यम से याचना कर रही है कि मैं तेरे साथ इस रीतिसे रहना चाहती हूं कि जैसे पत्नी पति के साथ रहती है। यमी का प्रस्ताव स्वीकृत होजाय तो ही दोनों का पतिपत्नी संबन्ध विवाह संस्कार के पश्चात् बनना है। प्रस्ताव के समय गान्धर्व विवाह पद्धति में भी पतिपत्नी का संबन्ध नहीं होता है। प्रस्ताव स्वीकृत होने पर गान्धर्व विधि से विवाह होने के पश्चात् वह संबन्ध होगा।

इस सप्तम मंत्र के शब्द देखने से स्पष्ट पता लगता है और साथ साथ पूर्व के मन्त्र देखने से भी स्पष्ट होजाता है, कि यमी का प्रस्ताव यम स्वीकार ही नहीं करता, इस लिये कि यम भाई है भाई बहिन का किसी भी अवस्था में शरीर संबन्ध न होवे यह बात बताना वेद को यहां अभीष्ट है।

(१) घर में साथ सोना, (२) पतिपत्नी के समान रहना, (३) रथके चक्रों के समान रहना, यह सब यमी की इच्छा है, यमी का प्रस्ताव है। पाठक यहा स्मरण रखें कि विवाह संस्कार से प्राप्त

अवस्था यह नहीं है। सहजात भाई बहिन का अवश्य विवाह होना चाहिये, यह यमी का पक्ष है, यमी इसी हेतु को देकर कहती है—

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबंधू यमीर्यमस्य विभृयादजामि ॥ ९ ॥
ऋ० १० । १०

यमी कहती है—"रात्री और दिन इसे उपदेश दें। सूर्य की चक्षु इस की आखें खोलें। द्यौ और पृथिवी यह युगल आपस में संबन्धित हैं। उसी प्रकार यमी यम के साथ (अ-जामि) बंधुत्व-रहित संबंध धारण करे।"

इस मंत्र में "सहजात युगल भाई बहिन आपस में पतिपत्नी-वत् रहते हैं इस लिये यमयमी सहजात भाई बहिन भी वैसे ही रहें" यह यमी का हेतु (argument) है।

(१) सूर्य से उत्पत्ति होने के कारण दिन और रात्री आपस में सहजात भाई बहिन हैं, तथापि एक दूसरे के साथ पतिपत्नीवत् मिले रहते हैं और यह उन के पिता सूर्य को पसन्द है क्यों कि वह बार बार देखता हुआ भी उस का निषेध नहीं करता। प्रकाश और अंधकार, प्रकाश और छाया, साथ साथ रहते हैं, इस प्रकार यह रूपक यमी बता रही है और सहजातों का विवाह सृष्टि नियमानुकूल कह रही है।

(२) आत्मासे उत्पन्न होने के कारण द्यौ और पृथिवी सहजात भाई बहिन हैं, तथापि "द्यौः" अपना वीर्य (जल) पृथ्वीपर फेंकता है और वानस्पत्यादि संतति उत्पन्न करता है।

यमी ये दो हेतु देती है और यम के मनको अपना प्रस्ताव

स्वीकृत करने के लिये अपने अनुकूल बनाती है। ये हेतु सहजात भाई बहिन के ही हैं, इन हेतुओं का विचार करने से भी पता लगता है कि ये यमयमी सहजात भाई बहिन हैं, न कि विवाहित पति पत्नी।

उक्त हेतुओं को सुनकर यम उत्तर देता है—

आघा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहु मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १०

"हां! वैसे आगे युग आयेंगे जिस समय (जामयः) भाई बहिन (अजामि) बंधुत्वरहित व्यवहार करेंगे। (इस समय वैसा पतित काल नहीं है, इस कारण तू मेरे से भिन्न किसी अन्य पति की इच्छा कर और अपना बाहू उस बलवान के लिये फैला।"

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है कि जब तक धर्मका युग रहेगा तबतक भाई बहिन का शरीर संबन्ध नहीं हो सकता। मनुष्य समाज के पतन की अवस्था में वैसा होगा। ऐसा पतन का युग अवश्य आयगा यह कहने का तात्पर्य यहां नहीं है, प्रत्युत जो यमी का प्रस्ताव यम के सन्मुख है उस की स्वीकृति की संभावना धर्ममर्यादा के अस्तित्व के समय नहीं हो सकती, अधर्मका युग जहां होगा वहां ही इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकृत हो सकता है। इतना ही इस का तात्पर्य है। इस लिये स्वयं भाई होने के कारण यम कहता है कि "तू किसी दूसरे से यह शादी का प्रस्ताव कर, दूसरे से अपना काम संबन्ध जोड़। यह भाई तेरी यह इच्छा धर्ममर्यादा के कारण पूर्ण कर ही नहीं सकता।"

जामि और अजामि

इस सूक्त में "जामि और अजामि" ये शब्द विशेष अर्थ से प्रयुक्त हुए हैं। यम और यमी दोनों के कथन में ये शब्द समान ही अर्थ से प्रयुक्त हुए हैं। पंडित जी ने इन शब्दों के अर्थों की खोज बहुत करने का यत्न किया है, परन्तु अशुद्ध मार्ग से खोज का यत्न करने के कारण विपरीत परिणाम तक उन की खोज पहुँची है।

ये मंत्र इतने स्पष्ट हैं, कि इन का विचार करने के समय हम "जामि अजामि" के अर्थ जो अन्य स्थान में हैं, न भी देखें, तो भी हम ठीक अर्थ का पता लगा सकते हैं।

मंत्र ९ में दिन रात्री तथा द्यावा पृथिवी के युगल को दर्शाकर यमी यम से कहती है कि "(यमी यमस्य अजामि बिभृयात्) यमी यमके साथ अजामि जैसा संबन्ध धारण करे।"

यमी चाहती थी कि यम के साथ अपना शरीर संबन्ध हो। इस शरीर संबन्ध का दर्शक "अजामि" शब्द इस मंत्र ९ में है। अर्थात् दोनों का शरीर संबन्ध न होने का हेतु "जामि" शब्द बताता है। विवाह निषेध करने के समय "(नौ परमं जामि) हम दोनों का परम जामि संबन्ध है। इस लिये हम दोनों का परस्पर शरीर संबन्ध नहीं होगा (देखो मंत्र ४) ऐसा यम कह रहा है।

इस से सिद्ध है कि इस सूक्त में जामि और अजामि शब्दों के अर्थ निम्न प्रकार हैं—

जामि—परस्पर का ऐसा संबंध कि जिस से परस्पर का शरीर संबंध पतिपत्नीवत् हो नहीं सकता।

अजामि—परस्पर ऐसा संबंध कि जिस में स्त्री पुरुषों का पति-

पत्नीवत् व्यवहार हो सकता है।

इस सूक्त में "भ्राता, स्वसा, एक गर्भ में स्थिति" आदि वर्णन जो अन्यत्र है, वह देखने से यमयमी का भाई बहन रूप संबंध स्थिर और निश्चित ही है, इस लिये इस सूक्त में "जामि" शब्द भाई बहन का संबंध और "अजामि" शब्द भाई बहन नहीं ऐसा पतिपत्नी संबंध बतानेवाला माना जाता है और वह युक्ति-युक्त ही है।

सत्य का असत्य

मनुष्य एक बार तुल जाय तो वह मनमानी बातें मानने लगता है, वही अवस्था श्री पं० चमूपति जी की इस सूक्त की खोज के समय होगई है। देखिये—

न यत्पुरा चकृमा, कद्ध नूनं ऋतं वदन्तो अनृतं रपेम ॥४॥

ऋ० १०। १०

यम कहता है—"नहीं जो पूर्व समय में हम ने नहीं किया, कैसे भला अब करें? नियम का व्याख्यान करने वाले हो क्या नियम तोड़नेवाला कर्म करें?

यम के कथन का तात्पर्य यह है कि "जो पहले कभी नहीं किया गया वह अब हम कैसे करेंगे? अर्थात् भाई बहन का शरीर संबंध कभी नहीं हुआ वह अब कैसे हो सकता है? क्या हम ही जो नियमों की व्याख्या करनेवाले हैं वे ही नियम तोड़नेवाला कार्य करें? ऐसा कर्म हमारे से कदापि नहीं हो सकता।" यह यम के कथन का तात्पर्य है इस का कितना विपरीत अर्थ श्री पं० चमूपति जी ने किया है, देखिये—

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनं

अर्थात्—जो हम ने पहले नहीं किया अब कदापि नहीं करेंगे।"

बिल्कुल उलटा अर्थ यह है! और यह बनता भी नहीं क्योंकि "कद्ध नूनं" का अर्थ "कैसे भला अब" इतना ही प्रश्नार्थक हो सकता है। यदि पिछला "न" कार, जो यहां आ ही नहीं सकता, वह बलात्कार से लाया भी जाय तो (कद्ध नूनं न) कैसे भला अब नहीं? ऐसा हो सकता है और संपूर्ण मंत्र चरण का अर्थ "जो हम ने पहले किया कैसे भला अब नहीं करेंगे?" ऐसा बनेगा। परन्तु जैसा चमूपति जी लिखते हैं वैसा कभी हो ही नहीं सकता। अर्थात् पं० जी की सांत्वनार्थ हम ने नकार को पिछले वाक्यार्ध के साथ संबंधित मानने पर भी उन के लिखित अर्थ से बिलकुल विरुद्ध अर्थ होता है और इस अर्थ से यमी का प्रस्ताव स्वीकार करने का पातक यम कर रहा है, ऐसा सिद्ध होरहा है!! यम जिस पातक से अर्थात् भगिनी से शरीर संबंध के पाप से दूर रहना चाहता है और बड़ी युक्ति प्रयुक्ति से बहन को समझा रहा है, वही पातक पं० जी उन के गले में लटका देते हैं!!! इस प्रकार यदि चतुर्थ मंत्र में यम की स्वीकृति ही हुई तो आगे के मंत्रों का कोई उपयोग ही नहीं रह सकता है।

वास्तव में "न यत्पुरा चकृमा, कद्ध नूनं" इस में नकारका संबंध पहिले वाक्य के साथ है और दूसरे वाक्य के साथ नहीं है, क्यों कि यमी के प्रस्ताव से इन्कार ही यम ने सर्वत्र किया है, और यम यमी कभी पतिपत्नी के नाते से रही ही नहीं थीं। इस लिये "जो हम ने किया अब कदापि नहीं करेंगे" ऐसी झूठी गवाही यम से दिलवानी अथवा यम को अनुमति के बिना ही नकार को दूसरे स्थानपर लेजाकर यम के कथन का विपरीत ही अर्थ करना यह वेद

के पक्षपाती श्रेष्ठ पंडित के लिये कदापि उचित नहीं है।

सखा

पहिले मंत्र में यमी ने यम को "सखा" शब्द से पुकारा है और दूसरे मंत्र में यम ने भी वह सखा शब्द अपने लिये स्वीकृत किया है। इस से श्रीपंडित जी अनुमान करते हैं कि दोनों का पति पत्नी संबन्ध हो चुका था। परन्तु यह अर्थ की किंवा अनुमान की विडंबना है, क्यों कि सखा शब्द से केवल पति पत्नी से संबन्धित सख्य ही बोधित होता है ऐसा कभी कहा नहीं जा सकता, हां पति पत्नी का सख्य, मित्रों का सख्य, भाई बहिन का सख्य, पिता पुत्र का सख्य, राजा प्रजा का सख्य ये सब विविध सख्य हैं। तात्पर्य सखा शब्द सामान्य समानशीलता बताने वाला शब्द है, इस से इतना लंबा अनुमान नहीं निकाला जा सकता।

हां, प्रथम मंत्र में जो सख्य यमी चाहती है वह पति पत्नी संबन्ध का ही सख्य है, परन्तु यमी का भाव जानकर यम स्पष्ट शब्दों से उस का निषेध ही करता है देखिये—

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्। ऋ० १०। १०। २

"तेरा सखा यह सख्य नहीं चाहता" यह यम का कथन है। यमी का प्रस्ताव यम समझ गया था, इसी लिये उस ने उत्तर दिया कि "ऐसा सख्य मैं नहीं चाहता।" इस से पूर्व भाई बहिन का सख्य दोनों में पहिले से था ही, परन्तु यमी को भाई बहिन के सख्य की अपेक्षा पति पत्नी संबन्ध से उत्पन्न सख्य चाहिये था। वह यम चाहता नहीं था। क्यों कि यह नवीन प्रस्ताव था। देखिये—

ओचित् सखायं सख्या ववृत्यां। ऋ० १०। १०। १

"मैं अपने सखा को सख्य भाव के लिये वरण करती हूं।" अथवा मैं अपने सखा के साथ सख्य भाव से वर्तन करती हूं किंवा वर्तन करूं।

इस में केवल यमी की इच्छा व्यक्त हो रही है, यमी प्रस्ताव कर रही है, यमी यम को पतित्व के लिये पसंद (choose) करती है। इस शब्द प्रयोग से भी पता लग सकता है कि इन का विवाह इस से पूर्व हुआ नहीं था। यह एक यमी का यम के प्रति (propo sal) प्रस्तावित विचार था। इस को पंडित जी ने गलत समझा है और वे सखा शब्द यहां देख कर ही इनको विवाहित समझने लगे हैं। परन्तु वैसा समझने के लिये मंत्र में अल्प भी प्रमाण नहीं है। प्रत्युत "ववृत्यां" क्रिया भविष्यकाल का प्रस्तावित वर्ताव बता रही है। यदि यह प्रस्ताव यम से स्वीकृत होता तो वे दोनों पतिपत्नी भाव से रह सकते थे। परन्तु ज्ञानी यम ने यमी का अधार्मिक प्रस्ताव माना नहीं, इस लिये उन दोनों में विवाह संबंध कभी हुआ ही नहीं। अब और एक बात देखिये—

समान लक्षण

द्वितीय मंत्र में यम के वचन में निम्न लिखित विधान आता है—

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विपुरुषा भवाति।
ऋ० १०।१०।२।

"तेरा सखा इस प्रकार का सख्य चाहता नहीं जिस में (सलक्ष्मा) समान लक्षणवाली (विपुरुषा) विषमरूप वाली बनती है।" अर्थात् समान लक्षणवाली बहन के साथ विषमरूप वाली स्त्री (पत्नी) के समान व्यवहार करना पड़े, इस प्रकार का सख्य मैं

नहीं चाहता, यह यम का कथन है।

एक माता पिता से उत्पन्न होने के कारण भाई बहन के लक्षण अवयव, चिन्ह आदि बहुत अंश में समान होते हैं। इस प्रकार के समान चिन्ह वाले भाई बहन का विवाह हुआ तो संतान में बड़ा बिगाड़ होता है। इस लिये सगोत्र विवाह शास्त्र में निषिद्ध माना है। अन्य गोत्र के उत्पन्न स्त्री पुरुष विषम वृत्तिवाले होते हैं, उन में गुणकर्म स्वभाव का साम्य देख कर विवाह होना लाभकारी होता है। तात्पर्य विवाह के लिये सगोत्रता से उत्पन्न होनेवाली समान लक्षणता न हो परन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न होने पर जितनी समान गुणता मिल जाय उतनी अच्छी है। यह बतलाने के लिये मंत्र में ये शब्द आगये हैं। परन्तु पं० चमूपति जी ने इस का भी स्वारस्य नष्ट किया है।

यम कहता है, कि हमारे समान लक्षण हैं, इसी लिये हम में विवाह नहीं हो सकता, क्योंकि विवाह करने के पश्चात् हमें विरुद्ध आकारवालों के समान आचरण करना पड़ेगा।

स्त्रीपुरुष विरुद्ध आकारवाले, (वि० सुरूप) भिन्न रूपवाले हैं, दोनों के रूप में बड़ा भेद है। विवाह संबंध के सख्य में ये विभिन्न आकार एक दूसरे के पोषक होते हैं, किसी अन्य सख्य संबंध में यह नहीं होता!

इस कारण यम कहता है कि हमें उक्त प्रकार आचरण करना पड़ेगा, इस लिये मैं वैसा सख्य नहीं चाहता, जैसा तू चाहती है।

यहां यम का कथन कितना सीधा है, परन्तु चमूपति जी ने इस मंत्र में भी विवाहित स्त्रीपुरुष संबंध की बू सूंघी है और इस के लिये "सखा" शब्द में ही उन्हों ने प्रमाण देखा है !! परन्तु यह कैसे सिद्ध हो सकता है, हमारी समझ में नहीं आता।

तात्पर्य जितनी भी रीतियों से हमने देखने का यत्न किया, उतनी रीतियों से हमें पं० चमूपति जी का कथन सरासर गलत प्रतीत हुआ है। इस लिये हमारे मत से—

(१) यमयमी सूक्त में यम और यमी ये आपस में सहजात युगल भाई बहन हैं।

(२) मंत्र का "गर्भ" शब्द "माता का गर्भ" ही दर्शाता है। वह बेशक आलंकारिक भी माना जाय तो भी कोई हर्ज नहीं है।

(३) इस में यमयमी का तात्पर्य पतिपत्नी नहीं है, परन्तु केवल भाई बहन ही है।

(४) यमयमी कभी विवाहित नहीं हुए थे, परन्तु केवल यमी यम से विवाह का प्रस्ताव कर रही थी, जो यम ने स्वीकार किया ही नहीं।

(५) भ्राता का अर्थ यहां भाई ही है न कि पति।

(६) सारे सूक्त में भाई बहन के संवाद की ध्वनि है, दांपत्य संबंध बनाने वाला एक भी शब्द इस में नहीं है।

(७) विवाह संबंध से किंवा सांसारिक सुख से यम विरक्त नहीं था, परन्तु वह बहन से विवाह करना नहीं चाहता था।

यम और यमी

यम और यमी शब्द भाई बहन के वाचक होने के विषय में साधारण प्रमाण भी यहां देखने योग्य है।

यम	यमी
पुत्र	पुत्री
कुमार	कुमारी

कृप   कृपी

गौतम   गौतमी

इत्यादि अनेक शब्द भाई बहिन का संबंध बताने वाले संस्कृत सारस्वत में प्रसिद्ध हैं। कई स्थानों पर अन्य अर्थ भी होगा परंतु वह इन के भाई बहिन होने का पूर्ण निषेध नहीं करता, इतना ही यहां बताना है।

सारांश

यमयमी सूक्त के विषय में पं० चमूपति जी की सम्मति से पाठकों का ठीक २ निर्णय होसका होगा। इस के [illegible] ऋ० मण्डल ५ सू०६९ मं० ४ में भी मित्र और वरुण को पृथि[illegible] औ[illegible] द्यौ का धारण करने वाला लिखा है। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों में भी है। तथा च ऋ० ५।६६। ६ में मित्र और वरुण के स्वराज्य का उल्लेख है। तथा च सू० ६५ मं० ४ में मित्र देव के लिये लिखा है कि वे पापी को भी विशाल गृह में पहुँचने का उपाय बतलाते हैं। यहां विशाल गृह का अर्थ मोक्ष स्थान है। क्योंकि इस से पूर्व इस का कथन है। इन सब प्रमाणों से भी यह सिद्ध होता है कि मित्र मोक्ष मार्ग के उपदेशक हैं।

ऋग्वेद तथा अथर्व वेद में यमयमी नाम का सुप्रसिद्ध सूक्त है। इस में बहन भाई का सम्वाद कराया गया है। रचना एक नाटक के ढंग की है। तथा जिस प्रकार वैदिक शैली है उसी प्रकार वहां भी रचना है। अनेक भाई उस का अर्थ का अनर्थ करते हैं और उस को स्त्री पुरुष का सम्वाद बना देते हैं। वे लोग भ्राता और भर्ता शब्द के एक ही अर्थ समझते हैं। उन को भ्राता को भर्ता बनाते हुये कुछ त विचार करना चाहिये !!

इस सूक्त से यह स्पष्ट है कि वैदिक समय से पूर्व यहां बहिन और भाइयों में विवाह सम्बन्ध होता था। तथा च यह भी स्पष्ट है कि वे बहन भाई यमज अर्थात्—जोड़िये उत्पन्न होते थे। इस

प्रथा को सब से पहले यम ने बन्द किया और अन्य स्त्री से विवाह की प्रथा प्रचलित की। इसी प्रकार अन्य नियमों की भी आप ने स्थापना की। यम और नियम शब्द ही इन बातों के द्योतक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पांच व्रतों का नाम यम इसी लिये है कि इन को यम ने चलाया था। अतः भारतीय साहित्य तथा जिन्द-अवस्था इस बात में एक मत हैं कि यम या मित्र, प्रथम धर्म्म और राज्य व्यवस्थापक हैं। इन्हीं का नाम मनु भी है।

यदि इस यमयमी सूक्त का मिलान जैन ग्रन्थों से किया जाये तो पता लग सकता है कि यम और श्री ऋषभदेव जी एक ही व्यक्ति थे। जैन सिद्धान्तानुसार यह मान्यता है कि पूर्व समय में यहां जोड़े (यमज) ही उत्पन्न होते थे तथा वे यमज स्वभाव से ही पति पत्नी समझे जाते थे। इस के अलावा यहां कोई विवाह-व्यवस्था नहीं थी। इस प्रथा को श्री ऋषभदेव जी ने ही आरम्भ किया उन्होंने अपना विवाह अन्य राजपुत्री से किया तथा उसी समय से विवाह प्रथा की स्थापना कर दी। (इसका सप्रमाण वर्णन हम आगे करेंगे।) अतः स्पष्ट होता है कि यम और ऋषभ-देव जी एक ही थे, आप का नाम 'यम' भी है। बस जिन्द अवस्था वेद तथा जैन शास्त्र सब इस को मानते हैं कि श्री ऋषभदेव जी ने ही पहले पहल राज्य और धर्म्म की स्थापना की। यम यमी सूक्त के आधार पर जो परिणाम हम ने निकाला है वही परिणाम महाराष्ट्र के सुविख्यात इतिहास संशोधक, सुविज्ञानी, महात्यागी, श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने भी निकाला है जैसा कि सातवलेकर जी के उपरोक्त लेख से प्रकट है। यह यमयमी सूक्त जैन धर्म्म की प्राचीनता तथा वास्तविकता का अटल प्रमाण है।

अग्नि देवता

स वरुणः सायमग्नि र्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति
मध्यतो दिवं तस्य देवस्य। अथर्ववेद कां० १३ सू० ३ मं० १३

अर्थ—वह अग्नि सायं समय वरुण होता है, प्रातःकाल उदय के समय मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्ष में से जाता है, वह इन्द्र होकर द्यौ को मध्य से तपाता है।

अथर्ववेद का यह अग्निसूक्त दर्शनीय है, जो भाई अग्नि आदि को परमात्मा कहते हैं उन को यह सूक्त विशेषतया देखना चाहिये। प्रत्येक बुद्धिमान आदमी समझ सकता है कि यहां इस जड़ सूर्य के सिवा अन्य वस्तु का वर्णन नहीं है। आगे सू० ४ में भी इसी सूर्य का वर्णन है। वहां लिखा है कि—

स धाता स विधाता सभ वायुर्न उच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥ ४ ॥
सो ऽग्निः स सूर्यः स एव महायम ॥ ५ ॥

अर्थात्—वह अग्नि ही (धाता) बनाने वाला, (वह विधाता) नियम बनाने वाला है। वह वायु है, वह ऊंचा मेघपटल है, वह अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य तथा वही अग्नि महायम है। ऋ० मं० ५। ३ में भी यही भाव है।

उपरोक्त मन्त्र में प्रथम मन्त्र का ही अनुमोदन है। यदि किसी को इस चतुर्थ सूक्त के विषय में सन्देह हो कि यह सूक्त सूर्यपरक है या नहीं तो उस का कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण सूक्त को पढ़ले उस की शंका स्वयं दूर हो जायगी, क्यों कि सूक्त में सूर्य की रश्मियों का तथा उस की चाल का और उस के उदय होने आदि का पूर्ण वर्णन है। इसी सूर्य के लिये लिखा है कि—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा।
य अस्येशेः द्विपदो यश्चतुष्पदम् तस्य देवस्य ॥
अथर्व १३। ३। २४

अर्थात्—जिस सूर्य के मन्त्र १३ में सब नाम गिनाये हैं वह सूर्य, आत्मा, बल का देनेवाला है। सब देवता जिस के शासन को मानते हैं। जो इन दोपायों का तथा चौपायों का स्वामी है इत्यादि। इस सूक्त के अनेक मन्त्रों में सूर्य की महिमा कही गई है। तथा जितने गुण परमात्मा के माने जाते हैं उन सब का आरोप यहाँ सूर्य में किया गया है। उसी से ऋचायें उत्पन्न हुई तथा सब कुछ उस से उत्पन्न हुआ यह स्पष्ट लिखा है। भोले-भाले प्राणी यह स्म-

झते हैं कि जब ऐसा है तो यहां अवश्य ईश्वर का ही वर्णन है। वह यह विचार नहीं करते कि जिस का जो उपास्य होता है वह अपने उपास्य में सम्पूर्ण दिव्य गुणों का आरोप कर लिया करता है।

अपनी बुद्धि की कल्पना शक्ति जितनी भी आगे पहुंच सकती है उस के अनुकूल वह उसे वहां तक लेजा कर अपने उपास्य की स्तुति किया करता है। इस का नाम स्तुतिवाद है वस्तुस्थितिवाद इस के सर्वथा विपरीत होता है। आज भी दुनियां का यही नियम है, आप किसी के उपास्य देव के विषय में उस के उपासक से पूछें वह आप को अपने उपास्य में सम्पूर्ण वही गुण बतलायेगा जो आप शायद ईश्वर में भी न मानते हों। मसीह आज स्वयं खुदा समझा जाता है तथा भगवान राम और भगवान कृष्ण के भक्तों से पूछो उन की भी यही अवस्था है। यही क्यों आप जंगली जातियों में जायें वे लोग भूत, पिशाच को अपना उपास्य मानते हैं। यही व्यवस्था पूर्व समय में थी। उस समय भारत में दो सम्प्रदाय थे। (१) आत्मवादी अर्थात् चैतन्य आत्मा में ही सम्पूर्ण शक्तियां मानते थे। (२) जड़देवोपासक यह सम्प्रदाय अग्नि, सूर्य, वरुण आदि जड़ देवों की उपासना करता था।

प्रथम आत्मोपासक सम्प्रदाय भारतीय आर्यों का था तथा दूसरा सम्प्रदाय पुरूरवा के समय बाहर से आने वाले आर्य अपने साथ लाये थे। प्रथम सम्प्रदाय वाले महापुरुषों के उपासक थे और नवीन आर्य याज्ञिक थे। ये याज्ञिक लोग आत्मा को शरीर से पृथक तो मानते थे परन्तु मुक्ति को नहीं मानते थे। वे केवल स्वर्ग को ही सब कुछ मानते थे और उस स्वर्ग की सिद्धि यज्ञों से हो जाती थी इस लिये न उन के यहां विशेष ज्ञान की आवश्यकता

थी, न तप आदि की ही। इस लिये इन दोनों में बड़ा मतभेद था। इन याज्ञिकों ने यह सिद्धान्त निकाला था कि जो पदार्थ आप यज्ञ में होमेंगे वही पदार्थ आप को स्वर्ग लोक में प्राप्त होगा। इसी लिये यज्ञ में सभी आवश्यक वस्तुओं को होमा जाने लगा, इसी कारण पशुओं को भी यज्ञ में होमा जाता था। जब इन नवीन आर्यों की विजय हुई और इन की सभ्यता भी इस देश में फैल गई तो इन के धर्म को भी यहां के मूल आर्यों ने अपना लिया और यहां ब्राह्मण धर्म की दुन्दुभि बजने लगी। परन्तु आर्य्य धर्म की श्रेष्ठता उस समय भी कायम रही। वर्तमान वेद उसी मिश्रित सभ्यता के ग्रंथ हैं। उन में कहीं तो मुक्त आत्माओं की स्तुति है और कहीं जड़ देवताओं की तथा कहीं वीर पुरुषों की स्तुति है। एकेश्वरवाद वेदों के पश्चात् प्रचलित हुआ है। वेदों में ईश्वरवाद की गन्ध भी नहीं है। वह तो उपनिषद् काल की कल्पना है जो लोग वेदों में ईश्वर सिद्ध करना चाहते हैं, यह उन का पक्षपात तथा हठ धर्म्मी है या वेदानभिज्ञता।

वैदिक देवता

तीन प्रकार के मंत्र

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकाश्च।
परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः।

निरु० दैवत काण्ड

अर्थात्—निरुक्तकार कहते हैं कि मन्त्र तीन प्रकार के हैं, परोक्ष, प्रत्यक्ष तथा आध्यात्मिक। परन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष के मन्त्र ही अधिकतर हैं, और आध्यात्मिक मन्त्रों की गणना नहीं के बराबर है। जो भाई सम्पूर्ण मन्त्रों में से ईश्वर का वर्णन

दिखलाते हैं उन को निरुक्तकार की सम्मति देखनी चाहिये। निरुक्तकार तथा वेद आध्यात्मिक से क्या अभिप्राय लेते हैं यह भी पढ़ने योग्य है।

सप्त ऋषयः प्रतिहृताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्
सप्तापः स्वपतो लोक मीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ
निरुक्त दैवत काण्ड। १२। ३७

निरुक्तकार ने यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३४। ५५ का दिया है। जिस का अर्थ यह है कि इस मनुष्य शरीर के अन्दर सात प्राण तथा पांच इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि सात ऋषि विद्यमान हैं। ये सात प्राण इस शरीर की निरन्तर रक्षा करते हैं। तथा जब ये इन्द्रियें विज्ञानात्मा में पहुँचती हैं तब अर्थात् स्वप्नावस्था में भी प्राणापान रुपी देव जागते रहते हैं। इत्यादि अनेक स्थानों पर इस मनुष्य शरीर का माहात्म्य है।

अग्नि

अग्नि वै सर्वमाद्यम्॥ तां० २५। ९। ३

अग्नि वै मिथुनस्य कर्त्ता॥ तै० १। ७। २। ३

अयं वा अग्नि ब्रह्म च क्षत्रं च। शतपथ, ६। ६। ३। १५

अग्नि रेव ब्रह्म, शत० १०। ४। १। ५

अग्ने पृथ्वीपते। तै० ३। ११। ४। १

अग्नि वै धाता। तै० ३। ३। १०। २

अग्नि वै ब्रह्मा,। षड्विंश ब्रा० १। १

अयमग्निः सर्व विद्। शत० ९। २। १। ८

अर्थात्—अग्नि आदि पुरुष है। तथा अग्नि मिथुन जोड़े का

बनानेवाला है। अर्थात् उस ने सबसे प्रथम विवाह प्रथा को प्रचलित किया। ब्राह्मण और क्षत्री अग्नि हैं। पृथिवीपति का नाम अग्नि है। अर्थात् पूर्व समय में राजा को तथा विद्वान तपस्वी को अग्नि की उपाधि दी जाती थी। अग्नि सर्वज्ञ है, धाता, ब्रह्मा आदि भी उसी के नाम हैं।

अतः स्पष्ट है कि ये सब नाम उपाधि वाचक थे। तथा महापुरुषों को इन्हीं नामों से विख्यात किया जाता था। अग्नि शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ हैं, परन्तु हमारा इस स्थान पर उन से प्रयोजन नहीं है। हमारा अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि वेदों में अग्नि शब्द का अर्थ पुरुषविशेष भी है। उस के अनेक नाम हैं उन में एक नाम अग्नि भी है। तथा च—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि रस्मद् द्वितीयं परिजात वेदाः।

ऋ० वेद मं० १० सू० ४५। १

अर्थात् प्रथम अग्नि द्युलोक में सूर्य रूप से प्रकट हुआ तथा दूसरा अग्नि पृथ्वी पर सर्वज्ञ मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ। जात वेद का अर्थ सर्वज्ञ है। जब स्वयं वेद ही अग्नि को सर्वज्ञ मनुष्य कहता है तो पुनः इस विषय में शंका को कहां स्थान है?

धाता र्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा।
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा॥
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादशः स्मृताः।

—महाभारत आदिपर्व अध्याय १२३

अर्थात्—ये १२ नाम सूर्य के हैं। अथवा १२ सूर्य हैं। यथा धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्,

पूषा, त्वष्टा, सविता, विष्णु। वही बात विष्णुपुराण ने कही है। विष्णु पु० अध्याय १५ अंश १ में आया है—

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च।

अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च। १३१।

विवस्वान् सविता चैव, मित्रो वरुण एव च।

अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः। १३२

जो बात महाभारत ने कही वही विष्णुपुराण ने कही (तथा अथर्व वेद ने इन नामों का कारण बड़ी ही उत्तमता से बता दिया है। जिस का उल्लेख हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं)। अभिप्राय यह है कि वैदिक समय में इस कल्पित ईश्वरवाद का नाम तक भी नहीं था। यह तो हुई जड़देववादियों की कथा अब आत्मवादियों की भी सुनो।

जिस समय इन नवीन वेदों की रचना हुई तथा इनका प्रचार अधिक हो गया तो आत्मवादियों का वह ग्रन्थ लुप्त हो गया, परन्तु फिर भी उस का कुछ आभास इन्हीं मन्त्रों में प्रतीत होता है हम उसी के सहारे चलकर अपने अभीष्ट पथ पर पहुंचने का प्रयत्न करेंगे। इस अध्यात्मवाद के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ प्रजापति थे।

निरुक्त और अग्नि

निरुक्तकार श्री यास्क जी दैवतकाण्ड में कहते हैं कि—

अथापि ब्राह्मणं भवति "अग्निः सर्वा देवताः" इति। ४। १७

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः

ऋ० १। १६४

इममेवाग्नि महान्तमात्मानमेक मात्मानं
बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रम्।

अर्थात्—अग्नि ही सब देवता रूप है यह ब्राह्मण है। तथा च वेद भी अग्नि की ही स्तुति इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि नामों से करता है। इसी अग्नि की बुद्धिमान लोग अनेक नामों से स्तुति करते हैं। इसपर दुर्गाचार्य जी का भाष्य भी देखने योग्य है। वहां स्पष्ट लिखा है कि "अग्निम्, आहुः तत्वविदः" अर्थात् तात्विक लोग अग्नि के सब नाम कहते हैं। अथवा अग्नि को ही सब नामों से कहते हैं।

वैदिक देवता

बहुत से भाई वेदानभिज्ञ लोगों के सन्मुख ईश्वर के नामों के प्रमाण में निम्न लिखित प्रमाण उपस्थित किया करते हैं।

इन्द्रं मित्रं, वरुण मग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः
ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ४६

यह मन्त्र बोलकर कहा करते हैं देखो इसमें लिखा है कि एक ही ईश्वर के सब नाम हैं, परन्तु ये लोग अपनी बुद्धिमानी से अथवा अनजान में इस से आगे पीछे के मन्त्रों पर दृष्टिपात नहीं करते। यदि ऐसा करते तो उन के इस कथन की असलीयत का पता लग जाता। क्योंकि इस से अगले ही मन्त्र में लिखा है कि कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति। इत्यादि

अर्थात्—सुन्दर गति वाली, जल वाहक सूर्य किरणे, कृष्ण-वर्ण नियत गति मेघ को जल पूर्ण करती हुई द्यु लोक में गमन करती हैं। आदि—

इस से आगे मन्त्र ४८ में सूर्य की गति का वर्णन है तथा उस से उत्पन्न १२ मासों का एवं ऋतुओं का कथन है। यहां भी स्पष्ट है कि उपरोक्त नाम ईश्वर के नहीं हैं अपितु सूर्य के ही सब नाम हैं। यहाँ मूल मन्त्र में ही लिखा है कि अग्निमाहुः। अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अग्नि को ही कहते हैं। तथाच—

धर्म्मः अर्कः शुक्रः ज्योतिः सूर्यः अग्नेर्नामानि।

शतपथ० ९। ४। २। २५

रुद्र सर्वः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भव महादेवः ईशान अग्नि रुपाणि कुमारो नवमः। शतपथ। ६। १। ३। १८

अग्निर्वै स देवस्तस्मै तानि नामानि शर्व इति प्राच्या आचक्षते भव इति। शतपथ

अग्निर्वै देवानामभवो विष्णुः परमः। कौत्स्य ब्राह्मण। ७। १

अग्निर्वै देवानामात्मा। शत० १४। ३। २। ४

अग्निर्वै सर्वमाद्यम्। ताण्ड्य ब्राह्मण। २५। ९। ३

अग्निर्वै ब्रह्म। शतपथ।

इत्यादि अनेक प्रमाण इस की पुष्टी करते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों में 'वै' शब्द विशेष महत्व का है उस ने ईश्वर की मान्यता का नितान्त निराकरण कर दिया है। क्यों कि वह कहता है कि ये सब नाम अग्नि के ही है, इस 'ही' ने अन्य बातों का खण्डन कर दिया है, इस लिये वेदों में वर्तमान ईश्वरवाद की गन्ध भी नहीं है। यह तो हुई वैदिक साहित्य की बात।

भारतीय पुराण

प्रसिद्ध विद्वान डा० जैकोबी ने भी जैनियों के इस प्रकार के

विवेचन में सत्यता की संभावना स्वीकार की है*। वरदाकांत एम० ए० आदि अन्य प्रसिद्ध विद्वान भी जैनियों की मान्यता को स्वीकार कर चुके हैं ‡।

वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए हैं। इस कल्पकाल में सर्व प्रथम आप ही ने जनता को धर्म और कर्म का ज्ञान दिया था। आप के पिता का नाम श्री नाभिराय और माता का श्री मरुदेवी था। आप ही के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है। भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में जैनपुराणों में इन सब बातों का स्पष्ट वर्णन

---

* There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jaina tradition is *unanimous in making Rishabha the first tirthankara* (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first tirthankara.

—Indian Antiqary Vol. IX P. 163.

अर्थात्—पार्श्वनाथ को जैनधर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिये प्रमाण का अभाव है। जैन मान्यता ऋषभदेव को अविरोध जैनधर्म का संस्थापक स्वीकार करती है। जैनियों की इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।

‡लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। किन्तु इस का प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था, इस की पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।

—वरदाकान्त मुख्योपाध्याय एम० ए०

मिलता है।†

जैन पुराणों के अतिरिक्त जैनेतर पुराण भी आप के सम्बन्ध में इस ही प्रकार का वर्णन करते हैं।❀

†हरिवंशपुराण सर्ग ८ श्लोक ५५, १०४ व सर्ग ९ श्लोक २१

❀अग्निध्र सूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः॥ ३९॥
सोभि शिंच्यर्षभः पुत्रं महा प्राव्राज्य मास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम संशयः॥ ४०॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥ ४१॥
—मार्कण्डेय पुराण अध्याय ५० पृष्ठ १५०।

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभे रासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरु देव्या महाद्युत॥ ३७॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः।
सोऽभिशिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः॥ ३८॥
कूर्म पुराण अध्याय ४१ पृष्ठ ६१।

जरा मृत्युं भय नास्ति धर्मा धर्मौ युगादिकम्।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमाद्देशात्तु नाभितः॥ १०॥
ऋषभो मरु देव्यां च ऋषभात् भरतो भवत्।
ऋषभोऽत्त श्री पुत्रे शाल्यं ग्रामे हरिं गतः॥ ११॥
भरताद् भारत वर्षं भरता सुमति स्वभूत्॥ १२॥
—अग्निपुराण अध्याय १० पृष्ठ ६२।

नाभि र्व जनयत्पुत्रं मरु देव्यां महा द्युतिः।
ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम्॥ ५०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः।
सो भिशिंच्याथ भरतः पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥ ५१॥

इस से प्रकट है कि जहाँ तक भगवान ऋषभदेव के वंश परिचय का सम्बन्ध है वहां तक भारतीय साहित्य एक मत है। भगवान ऋषभदेव के वंश परिचय के साथ उन के आदि जैन

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ५२ ॥
—वायु महा पुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३ पृष्ठ ५१।

नाभिस्त्वं जनयत्पुत्र मरू देव्या महा द्युतिम् ॥ ५९ ॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ॥ ६० ॥
सोऽभिषिंच्यर्षभः पुत्रं महाप्राब्राज्य मास्थितः।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ६१ ॥
ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध अनुषङ्ग पाद अध्याय १४ पृ० २४।

नाभेर्मेरु देव्यां पुत्रमजनयत्ऋषभनामानं तस्यभरतो।
पुत्रश्चतावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः—
हेमाद्रे दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ॥
—वाराह पुराण अध्याय ७४ पृ० ४९।

(अत्र नाभेः सर्गं कथयामि)
नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमांकेऽस्मिन्निबोधतः।
नाभिस्त्वं जनयत्पुत्रं मरू देव्यां महामतिः ॥ १९ ॥
ऋषभ पार्थिवं श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूजितं।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ॥ २० ॥
सा भिषिंच्याथ ऋषभो भरत पुत्र वत्सलः।
ज्ञान वैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रिय महोरगान् ॥ २१ ॥
सर्वात्मनात्मनि स्थाप्यपरमात्मानमीश्वरम्।
नग्नो जटो निराहारो चीरी ध्वांत गतो हिसः ॥ २२ ॥

तीर्थंकर होने का समर्थन भी भारतीय साहित्य से होता है।*

इस से यह भी प्रकट है कि भगवान ऋषभदेव के वंश परिचय के समान उन के आदि जैनतीर्थंकर होने के सम्बन्ध में भी उपलब्ध भारतीय साहित्य एक मत है।

पुराणों में इस विषय में विरोध नहीं। या जिस का प्रतिपादन पुराणमात्र एक स्वरसे करता है, इन सबका एक ही प्राचीन आधार है। भारतीय साहित्य के विशेषज्ञ डा० विण्टरनिटा ने भी इस

निराशस्त्यक्त सन्देहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रे दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्॥ २३॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—लिङ्ग पुराण अध्याय ४७ पृष्ठ ६८।

नते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्ट सुसर्वदा।
हिमाव्हयं तुवै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥ २७॥
तस्यर्षभो भवत्पुत्रो मेरु देव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्र शतस्य सः॥ २८॥

—विष्णु पुराण द्वितीयांश अध्याय १ पृष्ठ ७७ वैंकटेश्वर छापा बंबई का

नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद्भरतो भवत्।
तस्य नाम्ना त्विहं वर्षं भारतं चेति कार्त्यते॥ ५७॥

—स्कन्ध पुराण माहेश्वर खण्ड के कौमार खण्ड अध्याय ३७

*भागवत् स्कन्ध २ अध्याय ७ श्लोक १०

इस के अर्थ में वेदभाष्यकार पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र ने निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—'......ऋषियों न नमस्कार कीनों, स्वस्थ शान्त इन्द्रिय सब संग त्यागे ऋषभदेव जी भये जिन से जैनमत प्रकट भयो।'

विषय में ऐसा ही स्वीकार किया है। *

भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध का पौराणिक विवेचन अचलित एवं एकरूप है। अतः इस का आधार भी एक एवं प्राचीन अवश्य स्वीकार करना होगा। इस से प्रकट है कि भगवान ऋषभदेव सम्बन्धी पौराणिक विवेचन को किसी भी प्रकार काल्पनिक एवं मिथ्या स्वीकार नहीं किया जा सकता!

इन सब बातों के अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का भी अभाव नहीं है। ऐतहासिक प्रमाण जिनको हम यहां उपस्थित करेंगे निम्न प्रकार हैं:—

(१) उपलब्ध शिलालेख।

(२) भगवान ऋषभदेव की मूर्तियां।

(३) भ० पार्श्वनाथ से प्राचीन साहित्य।

---

* In the numerous cases in which the puranas agree with each other with the Mahabharata, *more or* less literally, it is *more probable* that they all are derived from the sane old source, then that one work is dependent on the other. This old source was on the one hard oral tradition. Comprising Brahaman tradition reaching back to the Vedic times, as well as the hard poetry handed down in the circles of the Kastriyas and on the other hand it was a certain definate texts probably far less in the bulk than our present Puranas.

—History of Indian Literature P. 521.

भ० ऋषभदेव के सम्बन्ध में अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, किन्तु इन सब में खण्डगिरि, उदयगिरि की हाथी गुफा का शिलालेख विशेष महत्वशाली है। इस के निर्माता सम्राट् खारवेल हैं। आप ने यह शिलालेख अपनी अनेक स्थानों की विजय एवं अपने अनेक महत्वशाली कार्यों के बाद लिखाया है। यह शिलालेख प्रायः पांच गज लम्बा और दो गज चौड़ा है। इस में सत्तरह पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में तकरीबन एक सौ अक्षर हैं। सम्राट खारवेल कलिङ्ग देश का अधिपति था। इस के समकालीन मगधेश का नाम पुष्यमित्र था। मगधेश पुष्यमित्र के पूर्वज भी मगध के अधिपति रह चुके हैं। पुष्यमित्र से तीन सौ वर्ष पूर्व मगध की बागडोर नन्दराज, नन्दवर्द्धन के हाथ में थी। इस ही समय मगध और कलिङ्ग में एक युद्ध भी हुआ था और इस में मगधेश की विजय हुई थी। इस विजय के उपलक्ष में मगधेश नन्दराज कलिङ्ग से एक अग्रजिन की मूर्ति भी ले गया था। सम्राट खारवेल को इन सब बातों का पता था। महाराज खारवेल एक तो वैसे ही सम्राट् होना चाहते थे और दूसरे कलिङ्ग से इस प्रकार अग्रजिन की मूर्ति का जाना भी आप को खटक रहा था, अतः आप ने मगध पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में महाराज खारवेल को सफलता मिली और फिर वे इस विजय के उपलक्ष्य में अग्रजिन की उस ही मूर्ति को जिस को नन्दराज कलिङ्ग से ले गये थे वापिस कलिङ्ग ले आये।

इस घटना का वर्णन प्रस्तुत शिलालेख की ग्यारहवीं पंक्ति में मौजूद है। महाराज खारवेल ने प्रस्तुत शिलालेख ईसवी सन से १७० वर्ष पूर्व लिखाया था। महाराज नन्दराज का समय प्रस्तुत शिलालेख से भी ३०० वर्ष प्राचीन है। इस प्रकार प्रस्तुत

शिलालेख से कलिङ्ग में अग्रजिन की पूजा आज से चौबीस सौ वर्ष प्राचीन प्रमाणित होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का तो यह अभिमत है कि अग्रजिन की यह मूर्ति कलिङ्ग में कलिङ्गाधिपति के पूर्वजों से चली आ रही थी। इन विद्वानों ने यह परिणाम सम्भवतः अग्रजिन शब्द के साथ कलिङ्ग शब्द से निकाला है।‡ बात भी सत्य प्रतीत होती है। यदि प्रस्तुत मूर्ति का कलिङ्ग की वंश परम्परा से सम्बन्ध न होता तो प्रस्तुत शिलालेख में उस को कलिङ्गजिन शब्द से स्मरण न किया गया होता। कोई भी वस्तु किसी भी देश या जाति के नाम से उस ही समय उल्लिखित हुआ करती है जब उस के साथ उस का सम्बन्ध कुछ समय का हो जाता है। कुछ भी सही, हाथीगुफा के इस शिलालेख से यह बात तो अवश्य माननी पड़ती है कि भगवान महावीर के निर्वाण के साठ वर्ष बाद कलिङ्ग में भगवान ऋषभदेव की अग्र-जिन के रूप में पूजा होती थी।

आक्षेपक ने इस शिलालेख के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—

"महावीर और बुद्ध के समय में मनुष्यों की मूर्तियां बनती थीं, इस को प्रमाणित करने के लिए अभी काफी गुञ्जायश है। महावीर के बाद जब महावीर की मूर्ति बनी तभी जैन शास्त्रों के कल्पित और अकल्पित पात्रों की मूर्तियां बनने लगीं। यह मूर्ति-निर्माण पुराना होने पर भी महावीर से पुराना नहीं है जिस से चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता महावीर से पुरानी साबित हो

---

‡ नन्दराजनीतं च कलिंग जिनं सनिवेसं...।

—हाथीगुफालेख पंक्ति १२ वीं बिहार उड़ीसा जरनल

जि० ४ भाग ४।

सके। हाथी गुफा का शिलालेख महावीर से पुराना नहीं है और न उस में उल्लिखित नन्दराजा महावीर से पुराना है। जब महावीर के सामने तीर्थङ्करों की मूर्तियां साबित नहीं हैं तब महावीर इस कल्पना का विरोध कैसे करते"।

हाथी गुफा का प्रस्तुत शिलालेख एवं उस में उल्लिखित नन्दराजा अवश्य महावीर के बाद के हैं, किन्तु इन दोनों में अन्तर केवल साठ वर्ष का है। अतः विचारणीय केवल इतना ही रह जाता है कि क्या इस समय में अग्र जिन की कल्पना की गई और फिर उन की मूर्ति का निर्माण हुआ?

विवादस्थ विषय के सम्बन्ध में जहां आक्षेपक जी भगवान् ऋषभदेव की कल्पना और फिर मूर्ति निर्माण को स्वीकार करते हैं वहीं हमारी मान्यता इस से विपरीत है। हमारा कहना है कि भगवान् महावीर के समय भी चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता थी और उन की मूर्तियों का सद्भाव भी आज ही की तरह था।

आक्षेपक का कर्तव्य तो यह था कि वह अपने इन विचारों के समर्थन में युक्ति उपस्थित करते, ताकि उन के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता, किन्तु उन्हों ने ऐसा नहीं किया है। अस्तु! जहां कि भगवान् महावीर के पश्चात् भ० ऋषभदेव की कल्पना और फिर उन की मूर्ति-निर्माण के सम्बन्ध में प्रमाणों का अभाव है वहीं इस के विपरीत निम्नलिखित बातें मौजूद हैं:—

१—भगवान् महावीर के शासन में उन के निर्वाणकाल के बासठ वर्ष तक केवल ज्ञानियों का समय रहा है। विवादस्थ समय भी भ० महावीर के निर्वाण के साठ वर्ष बाद का है, अतः वह भी केवल-ज्ञानियों का ही समय कहना चाहिये। भग-

वान् महावीर के समान इन के सम्बन्ध में भी कल्पना की बात स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि ये तीर्थङ्कर न होने पर भी सर्वज्ञ तो थे ही। दूसरी बात यह है कि इस समय तक वीर के उपदेश में रञ्चमात्र भी विकारों का प्रवेश नहीं हो पाया था। एक तो भगवान् महावीर को ही अभी थोड़ा समय हुआ था, दूसरे भगवान् महावीर के समान केवलज्ञानी भी मौजूद थे; अतः इस समय के जैन शासन और वीरकाल के जैनशासन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे समय में जो भी बातें हुईं वे अवश्य वीरोपदेशित ही हुई, क्योंकि नवीन कल्पना को तो स्थान नहीं था और बिना आधार के हो नहीं सकती थीं। हाथी गुफा के शिलालेख में वर्णित अग्रजिन की मूर्ति के निर्माण एवं उस की प्रतिष्ठा के समय का निश्चय न सही, शिलालेख से यह तो निःसन्देह मानना ही पड़ता है कि इस समय अग्रजिन के रूप में ऋषभ भगवान् की पूजा होती थी। अतः इस को भी वीरकाल की ही मान्यता स्वीकार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में आक्षेपक का कहना है कि चौबीस तीर्थङ्करों की कल्पना यदि महावीर के समय में हुई होती तो उन्हों ने इस का विरोध किया होता, समुचित नहीं। यह बात भी तो इस ही प्रकार घटित होती है कि चौबीस तीर्थङ्करों की कल्पना नहीं थी, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य था; अतः महावीर ने इस का विरोध नहीं किया। महावीर का इस का विरोध न करना कोई ऐसा तर्क नहीं है जिस से इस को वास्तविक स्वीकार किया जासके। प्रत्युत यह तो इस की वास्तविकता को ही प्रमाणित करता है।

२—वास्तविकता के अस्तित्व में प्रतिकृति की तरफ रुचि नहीं होती; अतः जब तक महावीर रहे तब तक तो उन की मूर्ति-

निर्माण की बात पैदा नहीं होती। भ० महावीर के बाद भी ६२ वर्ष तक साक्षात केवलियों का समागम रहा है, अतः ऐसी परिस्थिति में भी वह आवश्यकता युक्तियुक्त नहीं जँचती। प्रस्तुत मूर्ति महावीर * ६० वर्ष बाद मौजूद थी यह तो एक ऐतिहासिक सत्य है तथा उस का निर्माण काल एवं प्रतिष्ठा काल अभी तक अनिश्चित है। अतः उपर्युक्त परिस्थिति में इस का निर्माण एवं प्रतिष्ठा काल भी महावीर से पूर्व ही जँचता है।

३—किसी भी मान्यता का उद्गम एवं उस के व्यवस्थित स्वरूप मे आने के लिये सदियों की आवश्यकता हुआ करती है। बुद्ध की मूर्ति निर्माण को ही इस के सम्बन्ध में दृष्टान्त के रूप में लिया जा सकता है। इस की ठीक २ व्यवस्था एवं इसके प्रचलित रूप में आने में भी कई सौ वर्ष लगे थे। भगवान् ऋषभदेव यदि कल्पित व्यक्ति होते तो उन की कल्पना और फिर उन की मूर्ति-निर्माण आदि बातें भी सदियों में ही विकसित हो सकती थीं। प्रस्तुत परिस्थिति इस के प्रतिकूल है, अतः यह दृष्टि भी काल्पनिकता के प्रतिकूल है।

४—सनातनियों ने अवतारों की गणना में ऋषभावतार को कृष्ण और राम के अवतार के पहिले गिनाया है*। ऋषभदेव

---

* हंसाय मत्स्य रूपाय वाराह तनु धारिणे।
नृसिंहाय ध्रुवेज्याय सांख्य योगेश्वराय च ॥५३॥
चतुर्मनाय कूर्माय पृथवेस्व सुखात्मने।
नाभेयाय जगद्धात्रे विधात्रैंतकराय च ॥५४॥
भार्गवेन्द्राय रामाय राघवाय पराय च।
कृष्णाय वेद कर्त्रे च बुद्ध कल्कि स्वरूपिणे ॥५५॥
—नारदीय पुराण-अवतार वर्णन।

यदि काल्पनिक व्यक्ति होते और इन की कल्पना का समय महावीर के बाद का होता तब तो इन का नाम बुद्धावतार के बाद और कलकी अवतार के पहिले मिलना चाहिये था। इस से भी यह परिणाम निकलता है कि सनातनी भी वर्तमान पुराणों के आधार परम्परा से ऋषभदेव के समय को कृष्ण और राम से पूर्व ही स्वीकार करते चले आ रहे हैं।

५—जिन के साथ कलिङ्ग शब्द के आधार से कतिपय विद्वान की मा यता को यदि स्थान दिया जाये तब तो प्रस्तुत मूर्ति का अस्तित्व निःसन्देह महावीर के समय में भी मानना पड़ता है।

इन सब बातों के आधार से हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत शिलालेख भगवान् ऋषभदेव की मान्यता को महावीरकाल में भी निःसन्देह प्रमाणित करता है।

प्रस्तुत शिलालेख के अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव की मूर्तियां भी उन के अस्तित्व को भगवान् महावीर तो क्या भगवान् पार्श्व-नाथ से भी प्राचीन प्रमाणित करती हैं।

वैसे तो भगवान् ऋषभदेव की हजारों प्राचीन मूर्तियां उप-लब्ध हैं किन्तु यहां हम केवल दो स्थानों की ही मूर्तियों को लेंगे।

इन दोनों स्थानों में पहिला स्थान मथुरा है और दूसरा मोहनजो दारू! कुछ समय हुआ जब मथुरा में कङ्क लीटील की खुदाई हुई थी। इस में भगवान् ऋषभदेव की अनेक मूर्तियां निकली हैं। इन में से कुछ कनिष्क के समय की भी हैं। ये सब अभी तक मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित हैं। ऐतिहासिक विद्वानों ने इस का समय ईसवी सन् १५० निश्चित किया है।

इस ही प्रकार मोहनजो दारू की खुदवाई में भी अनेक मोहरें आदि निकली हैं। इन में से प्लेट नं० २ की सील नं० १ ३, ४,५ पर

ध्यानावस्था की खड्गासन मूर्तियां हैं। इन के नीचे बैल का चिह्न है। ध्यान के मुख्य दोनों आसनों में पद्मासन का उल्लेख तो अन्य सम्प्रदाय के शास्त्रों में भी मिलता है, किन्तु खड्गासन के सम्बन्ध में यह बात नहीं देखी गई। खड्गासन का वर्णन तो खासतौर से जैन शास्त्रों में ही मिलता है। राय बहादुर प्रो० चन्दा ने भी इस को जैनियों का ही स्वीकार किया है*।

प्रस्तुत सीलों में उल्लिखित ध्यानस्थ मूर्तियाँ जहां खड्गासन में हैं वहाँ इन के नीचे भगवान् ऋषभदेव की अन्य मूर्तियां की तरह बैल का चिह्न भी है। यह बात यहीं तक नहीं है किन्तु सीलस्थ मूर्तियों की आकृति आदि अन्य बातें भी भगवान् ऋषभ-देव की कुशान कालीन मथुरा वाली मूर्ति से मिलती हैं। प्रो० चन्दा ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—

A Standing image of Jaina Rishabha in Kayotsarga posture on the steb showing four such images assignable to the Second century

---

* The Kayotsarga posture is peculiarly Jain. It is posture not of sitting but of standing. In the Adi Puran Book XVIII Kayotsarga posture is described in connection with the penances of Rishabha or Brishabha

अर्थात्—कायोत्सर्ग आसन खासतौर से जैनियों का है। यह बैठे हुए का आसन नहीं है, किन्तु खड़े का है। आदि पुराण अ० १८ में ऋषभ या वृषभ के सम्बन्ध में इस का उल्लेख मिलता है।

—Modern Review Aug. 1932.

A. D. in the Curzon museum of archaeology Mathura, is reproduced in Fig 12....Amōng the Egyptian sculptures of the time of the early dynastjes there are standiug statuettes with armas hanging on two sides. But though these early Egyptian status and the archaic Greek Kourori show nearly the same pose. They lack the feeling of abandon that characterizes the standing figures on the Indus seals and images of Jianas tn the Kayotsarga posture. The name Rishabha means bull and the bull is theembles of Jina Rishabha. The standing diety figured on seals three to five (plate II E, G H.) with a bull in the fore ground may be the moto type of Rishabha.

—Modern Review Aug. 1932.

अर्थात्—ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी की मथुरा की ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति को जो कि चार मूर्तियों के समान है, यहां दिये देते हैं। इजिपटियन की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं जिन के दोनों हाथ लटक रहे हैं। इजिपटियन की ये प्राचीन मूर्तियाँ और ग्रीक की मूर्तियां एक जैसी हैं किन्तु इन में वैराग्य की दृष्टि का जो कि मोहनजोदारू और मथुरा की जैन मूर्तियों में पाई जाती है अभाव है। ऋषभ का अर्थ बैल है और बैल ऋषभजिन का चिह्न है। प्लेट नं० २ की तीन से पांच नम्बर तक की सीलों पर खड़ी हुई मूर्तियाँ जो कि बैल सहित हैं ऋषभ की नकल हैं।

इन सब बातों के आधार से हम इस बात को बलपूर्वक कह

सकते हैं कि ये मूर्तियां भगवान् ऋषभदेव की हैं। इन सीलों का निर्माण समय पुरातत्व वेत्ता विद्वानों ने ईसवी सन् से तीन हजार वर्ष प्राचीन निश्चित किया है।‡

— —

‡यह ऐतिहासिक कथन पं० राजेन्द्रकुमार जी लिखित 'विरोध-परिहार' पुस्तक से उद्धृत किया गया।

ब्रह्मा ऋषि

वैदिक साहित्य और वर्तमान ऐतिहासिक सामग्री से यह सिद्ध होगया कि ऋषभदेव महापुरुष हुये हैं। अब हम यह सिद्ध करते हैं कि वे ही सबसे पहले धर्म के आदि प्रवर्तक थे।

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः।

छान्दोग्य ३, ११, ४, ८, १५, १

तुरः कावषेय प्रजापति ब्राह्मणः। ३०, ६, ५, ४

अर्थात् ब्रह्मा ने इस ज्ञान को प्रजापति से कहा, प्रजापति ने मनु से कहा, तथा मनु ने सम्पूर्ण प्रजाओं को। यहां स्पष्ट हो प्रजापति का पिता ब्रह्मा ऋषि है।

दूसरा ब्रह्मा

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

मुण्डकोपनिषत्।

यह अथर्वा का पिता कोई अन्य ब्रह्मा है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा का पुत्र अथर्वा है, यह पुराणों में भी देखने में नहीं आया। तथा च—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

श्वेता० ३०, ६, १८

यहां भी ब्रह्मा ऋषि ही है।

भूरिति वै प्रजापतिः ब्रह्मा जनयत। शतपथ० २, १, ४, १२

उस प्रजापति ब्रह्मा ने ऋग्वेद बनाया।

भूर्भुवः स्वरिति त्रयी विद्या जै० ३०२, ९, ७।

स प्रजापतिः श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति॥ शत० ६, १, १, १०

अर्थात् उसी ब्रह्मा ने पुनः तीन वेदों का संग्रह किया। यह संग्रह कब किया—

त्रेतायां प्रथमे व्यस्ता स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा २०।

विष्णुपु० अ० ३ अं ३

त्रेतादौ संहिता वेदाः। वायु० पु०

त्रेता युग मुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तमः।
सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यक् युयोज स तदाध्वरे। ४९

विष्णु पु० अ० ५ अंश० १

अर्थात् त्रेता के आदि में ब्रह्मा ने तीन वेदों को बनाया। यह बात उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट हो गई।

॥ अग्नि ऋषि ॥

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तं सामानि यान्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋ० १।४४।१५

अर्थात् अग्नि (ब्रह्मा) पहले तप में जागृत हुआ, उस की ऋग्वेद ने कामना की उसी को यजुर्वेद प्राप्त हुआ तथा उसी से सामवेद ने मित्रता की।

अग्नि ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्य पुरोहितः। यजु० २६।९

अर्थात्, भ्रमण करता हुआ अग्नि ऋषि मनुष्यमात्र का हित करता हुआ।

अग्निर्होता कविः क्रतुः।

उपरोक्त प्रमाणों से अग्नि का ऋषि होना सिद्ध है। तथा च ब्रह्मा की सन्तान ब्राह्मण कहलाती है इसी प्रकार—

"आग्नेया ब्राह्मणाः" तथा च, "अग्निमुखा वै ब्राह्मणाः।"

इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण अग्नि की सन्तान हैं, अतः अग्नि और ब्रह्मा एक ही होने से ब्राह्मण और आग्नेय एक हुये इसी तरह 'अग्निमुखा वै ब्राह्मणाः' का भी यही अर्थ है कि अग्नि है मुख जिन का वे अग्निमुखा ब्राह्मण कहलाये

तथा च-अग्निरेव ब्रह्म। शतपथ० १०।४।१।५,

इत्यादि शास्त्रों के शतशः प्रमाण हैं जिन में अग्नि को ब्रह्म (ब्रह्मा) कहा है। तथा च—

अनलप्रभवं भृगुम्। मनु० अ० ५।१

यहाँ भी अनल अग्नि ऋषि ही है जिस की सन्तान भृगु है।

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्तश्चेति ते दश॥

ब्रह्मणो मनसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः ॥ वायुपुराण अ० ५९, ८८

अर्थात् ब्रह्मा के दस पुत्र मानस हैं; उन में सब से प्रथम भृगु है अब किसी को सन्देह नहीं रह सकता कि अग्नि और ब्रह्मा एक ही हैं और यह मनुष्य हैं तथा इन्हीं की सन्तान ब्राह्मण हैं। सब से पहले इसी ब्रह्मा ऋषि ने तीन वेदों का संकलन त्रेता युग के आदि में किया। परन्तु वह संक्षेप रूप में था।

इस प्रथम ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, तथा सूर्य के प्रार्थनापरक तथा कुछ याज्ञिक मन्त्र बनाये थे। इसी लिये जिस संहिता में इस ने अग्नि का वर्णन किया उसका नाम ऋग्वेद हुआ। तथा जिस में वायु का वर्णन किया उस का नाम यजुर्वेद हुआ। एवं जिस में आदित्य (सूर्य) का वर्णन किया उस का नाम सामवेद हुआ।

अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥ शतपथ १४।५

अर्थात अग्नि से ऋग्वेद प्रसिद्ध हुआ, वायु से यजुर्वेद प्रकट हुआ तथा सूर्य से सामवेद। अर्थात इन का वर्णन होने से यह नाम प्रसिद्ध हुये। यही भाव मनु का है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १, २३

अर्थात इन तीन सनातन तत्वों से ब्रह्मा ने ऋग यजु, और साम को दुहा। अभिप्राय यह है कि इन्हीं तीनों का वर्णन तीनों संहिताओं में किया है। इसी अग्नि के आगे चल कर भक्ति विशेष के कारण भक्तों ने अनेक नाम रख दिये। यथा—

धर्मः, अर्कः, शुक्रः, ज्योतिः, सूर्यः, अग्नेर्नामानि। श० ९-४-२-२५

रुद्रः, सर्वः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः,
महादेवः, ईशान अग्निरूपाणि कुमारो नवमः। शत० ६, १, ३, १८

अग्निर्वै स देवस्तस्मै तानि नामानि शर्व इति,

यथा-प्राच्या आचक्षते भव इति—शतपथ०

अग्निर्वै देवानामभवो विष्णुः परमः। कौत्स्य० ७-१

अग्निर्वै देवानामात्मा। शतपथ १४-३-२ ५

अग्निर्वै सर्वमाद्यम्। ताण्ड्य ब्राह्मण। २५-९-३

अग्निर्वै ब्रह्म, शतपथ

अर्थात्—धर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति, सूर्य, रुद्र, शर्व, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार, आद्यम्, विष्णु, परमः, देवात्मा आदि सब नाम अग्नि के हैं। यहां ईशान शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अथर्ववेद को छोड़ कर ईश्वर शब्द किसी वेद में नहीं आया। अन्य वेदों में ईश ईशान आदि शब्द आये हैं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में ही ईश शब्द ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त हुआ बाकी सब जगह ईश तथा ईशान शब्द अन्य अर्थ में आये हैं। ईशान शब्द से ही ईश्वर का विशेष ग्रहण किया जाता है, परन्तु अब यह स्पष्ट हो गया कि यह शब्द विशेषतया अग्नि वाचक ही वेद में प्रयुक्त हुआ है। तथाच—

इन्द्रं मित्रं वरुण मग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद १। १६४। ३६

अर्थात्—तमग्निम्, इन्द्र आहु, अर्थात् उस अग्नि को इन्द्र कहा उसी को मित्र कहा, उसी को वरुण, सुपर्ण, दिव्य, गरुत्मान, यम मातरिश्वा आदि कहते हैं।

यहां अग्नि आगे चल कर ईश्वर (आराध्य) रूप से पूजा जाने लगा तो ईश्वर के भी उपरोक्त नाम होगये, परन्तु यह ईश्वर

कल्पना उपरोक्त वैदिक काल की नहीं है अर्थात् बहुत पीछे की है इस का विशेष वर्णन किसी अन्य स्थान पर करेंगे यहां प्रकरण-वश संकेत मात्र कर दिया है ।|जो लोग उपरोक्त नामों से वेद में ईश्वर अर्थ समझते हैं वे वैदिक स्वाध्याय से नितान्त दूर हैं। इस अग्नि का नाम आदि (आद्यम्) अर्थात् प्रारम्भ में होने वाला है इस का नाम आदि भी है। इसी का नाम धर्म भी है, जैसा कि ऊपर के प्रमाणों से प्रकट है। धर्म का नाम ऋषभ है यह धर्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर आया है। जैन मतानुसार भी प्रारम्भ में भगवान ऋषभदेव ने उपदेश दिया यह सिद्धान्त है। २४ तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर यही हुये हैं इस लिये इन का नाम आदिनाथ भी है। तथाच उपरोक्त ब्रह्मा का पुत्र एक मरीचि भी है, एवं इन आदिनाथ भगवान का पौत्र भी मरीचि है, तथाच

(वेदविद्भिरहिंसोक्ता वेदो ब्रह्मनिरूपितः। जैन उत्तरपुराण)

अर्थात् वेद ब्रह्मा के बनाये हुये हैं, वेदज्ञ विद्वान अहिंसा ही का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मा को आदिनाथ कहो अथवा अग्नि कहो हैं एक ही/इस पर विद्वान लोगों को ध्यान देकर अन्वेषण करना चाहिये। इस तरह प्रथम अग्निऋषि ने तीन प्रकार के मंत्रों की रचना की, उस के पश्चात् अनेक ऋषियों ने अपने २ मन्त्र बनाये इस प्रकार यह क्रम चलता रहा, आगे चल कर जिस २ देवता को जिस ऋषि ने उपास्य बनाया उसी के नाम का मन्त्र अथवा सूक्त बना लिया, तथा गंगादि नदियों को देख कर उन के नाम भी रखे और उन की स्तुति में मन्त्रों की रचना भी की, इस प्रकार यह वेद फैल गया तथा वृहदाकार होगया।

द्वितीय ब्रह्मा

त्रेतायुग के मध्य में अथवा अन्त में यह द्वितीय ब्रह्मा अथर्वा

ऋषि के पिता हुये, इन्हों ने पुनः तत्कालीन मन्त्रों का संग्रह किया तथा प्रचार किया।

यज्ञेन वाचः पदवीय मायन्तामन्वविन्दन्नृषिषुप्रविष्टाम्।
तामाभृत्याव्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभाअभिसंनवन्ते ॥

ऋग्वेद० १०, ७१, ३

यज्ञेन (ब्रह्मणा) वाचः मन्त्रा, वाग्वै मन्त्रः।

अर्थात ब्रह्मा आदि के कहे हुये मन्त्रों को संग्रह कर के मनुष्यों में फैलाया जो कि ऋषियों में प्रविष्ट थे। अर्थात जो मन्त्र ऋषियों के याद थे उन का संग्रह तथा प्रचार किया।

*युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयंभुवा‡ ॥

ऐतरेय ब्राह्मण भाष्यभूमिका में सायण ने कहा है। अर्थात् युग के अन्त में अन्तर्हितान्वेदान् ऋषियों के अन्दर निहित वेदों को ब्रह्मा की अनुमति से ऋषियों ने तपपूर्वक प्राप्त किया। अन्तर्हितान वेदान् तथा मन्त्र में आये हुये 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' की सामान्यता को देखें। इस का भी अभिप्राय यही है कि बनाये हुये तथा उन के याद किये हुये मंत्रों का संग्रह ब्रह्मा की अनुमति से ऋषियों ने किया यह कार्य तप से ही सिद्ध हो सकता है इस में तो किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। यह ब्रह्मा द्वितीय ब्रह्मा अथर्वा का पिता ही है जैसा कि मुण्डकोपनिषद से हम प्रथम ही दिखला चुके हैं।

इस संग्रहीत वेद को अंगों सहित ब्रह्मा ने अपने पुत्र अथर्वा को पढ़ाया, यह भी मुण्डकोपनिषद से सिद्ध ही है। इसी समय

---

*युगान्ते का अर्थ चौथे वर्ष में है उस का विवेचन आगे करेंगे।
‡यह श्लोक महाभारत का है।

इस अथर्वा ऋषि ने अवशेष मन्त्रों का संग्रह करके तथा कुछ मन्त्र इन्हीं ऋगादि से लेकर अथर्व वेद की रचना की। इस अथर्व वेद में १० काण्ड थे। उस समय १० ही काण्ड यजुर्वेद के थे, ऋग्वेद के १० मण्डल थे। अध्याय आदि का निर्माण पुनः हुआ है। उसी समय ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रारम्भ हुआ था पुनः बढ़ता चला गया।

जब वेद एक वृहद् काव्य ग्रन्थ बन गया तथा ब्राह्मण ग्रन्थ भी बनने लगे तो मनुष्यों में कण्ठस्थ करने की अरुचि होने लगी, इस पर भी उस समय के ब्राह्मण लोग नये नये मन्त्रों की रचना करते जाते थे, और यह मन्त्र आख्यान रूप से होते थे, जिस प्रकार पञ्च तन्त्र में एक श्लोक उद्धृत कर के नीचे उस की कथा लिखते हैं उसी प्रकार शिक्षा के लिये आख्यान रूप मन्त्र बनाये और उन की कथा अथवा इतिहास भी लिखा, ये आख्यायिकायें कोई इति-हास की सच्चा घटनायें तथा कई केवल मात्र शिक्षा प्रद दृष्टान्त थे, उन में कई औपन्यासिक ढंग पर अथवा नाटक की तरह उस समय की प्रचलित रस्म रिवाज का चित्र था। इस प्रकार यह वेद; मन्त्र और ब्राह्मणात्मक कहलाने लगा।

यह सिलसिला बहुत समय तक चलता रहा। यहाँ यह भी याद रखना चाहिये कि जिस समय इस द्वितीय ब्रह्मा की अनुमति से ऋषियों ने मन्त्रों का संग्रह किया तथा उसी के प्रधानत्व में उन मन्त्रों का संकलन किया तो उन्हों ने उन २ मन्त्रों पर उन ऋषियों का नाम लिख दिया जिन जिन ऋषियों से उन के मन्त्र प्राप्त हुये थे। जो मन्त्र अनेक ऋषियों से प्राप्त हुए थे उन मन्त्रों पर अथवा सूक्तों पर अनेक ऋषियों का नाम लिख दिया तथा जो एक ऋषि से प्राप्त हुये थे उन पर एक का नाम लिख दिया। इन ऋषियों में बहुत से तो मन्त्र बनाने वाले थे

परन्तु कण्ठस्थ करके रक्षित रखने वाले अन्य थे। इन मन्त्रों पर किसी रचयिता या रक्षक का नाम लिख दिया गया अथवा दोनों का लिख दिया गया। जो मन्त्र सैकड़ों ऋषियों से प्राप्त हुये थे उन पर सैकड़ों ऋषि लिख दिया गया। इन सब बातों का क्रमशः वर्णन हम प्रमाण सहित आगे करेंगे। इस समय भाषा की भी उन्नति हो गई थी तथा मनुष्यों ने अपने व्यावहारिक वस्तुओं की भी उन्नति कर ली थी। अतः उन सब व्यावहारिक विषयों के मन्त्र बनने लगे तथा संस्कारों और यज्ञों का भी प्रचार हो गया। तब विप्रों ने संस्कारों के ऊपर तथा याज्ञिक मन्त्र बनाये। अभिप्राय यह है कि जो उस समय रस्मोरिवाज थीं तथा जातियां भी बनने लगी थीं; उन सब को लेकर नये २ ढंग के उत्तम भाषा में मन्त्र बनने लगे और पहले मन्त्रों का प्रचार जाता रहा। क्योंकि उस समय के लोग उन से ग्लानि करने लगे थे। इस लिये इस वैदिक वाङ्मय का तीसरा संकलन द्वापर के प्रारम्भ में हुआ। यह संग्रह अंगिरा ऋषि के प्रधानत्व में हुआ। इसी अंगिरा का नाम पुनः बृहस्पति (वाक्पति) प्रचलित हो गया।

त्रेतायां प्रथमे व्यस्ता स्वयं वेदा स्वयं भुवा।
त्रेतायां द्वितीये चैव वेदव्यासप्रजापतिः ॥११॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः ॥१२॥

विष्णु पु० अंश ३ अध्याय २

जिन्हों ने (जिन ऋषियों ने) वेदों का संकलन किया तथा उन को विभाजित किया, उन सब ऋषियों का नाम वेद व्यास होता है, यह उपाधि है। अतः यहां प्रथम व्यास स्वयं भू ब्रह्मा को कहा है तथा दूसरा व्यास प्रजापति ब्रह्मा को जिन का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, तीसरा व्यास यहाँ उशना को

लिखा है। परन्तु ये उशना असुरों के कवि तथा पुरोहित थे, आर्यों के नहीं। अतः इस ने आसुरी ग्रंथों का संकलन किया है उपरोक्त वेदों का नहीं। अतः तीसरा संग्रह बृहस्पति ने किया है यह स्पष्ट है।

बृहस्पति

(१) बृहस्पति ब्रह्म ब्रह्मपतिः ॥ तै० २-५-७-४

(२) बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा। शतपथ १-७-४-२१

(३) बृहस्पतिर्वा आङ्गिरसो देवानां ब्रह्मा, गोपथ ३-१-१

अर्थात्—वेदपति, ब्रह्मा, तथा आङ्गिरस इस ऋषि के नाम हैं, परन्तु ब्रह्मा और व्यास आदि उपाधियां अर्थात उपनाम हैं। इस के असली नाम बृहस्पति तथा अङ्गिरा गोत्र में उत्पन्न होने से आंगिरस हैं।

शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृता मन्त्रकृदासीत्।

ताण्ड्य ब्राह्मण (११–३–४–२४)

यह आंगिरस बृहस्पति मन्त्र रचने वालों में सर्वश्रेष्ठ था। तथाच—अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। मनु० अ० २–१५१ यह आंगिरस बाल्य अवस्था में ही अपने पितादि को पढ़ाने लगा था तथा काव्य रचने लगा था। अर्थात मन्त्र बनाने लगा था।

उपरोक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित है कि इस बृहस्पति चतुर्थ व्यास ने वेदों का संग्रह किया। यह संग्रह द्वापर के आरम्भ में हुआ है यह ठीक है। इस आंगिरस ने जहां अन्य मन्त्रों का संग्रह किया वहां अपना एक आंगिरस वेद भी बनाया। और उस को संभव है इस ने अथवा पीछे किसी ने अथर्व वेद के अन्दर सम्मिलित कर दिया। अब इस वेद का नाम अथर्वा-

गिरस वेद हो गया। इस संकलन से ही वृहस्पति के वाकपति, ब्रह्मपति, आदि नाम प्रसिद्ध हुये तथा वह भी ब्रह्मा कहलाने लगे। इस समय तक ब्राह्मण भाग (जो उस समय तक बन चुका था) वेद के अन्तर्गत ही था, पृथक नहीं था। ॐ प्रमाण सहित इस का वर्णन आगे करेंगे।

अब इस वेद ने और विशाल शरीर धारण कर लिया, बहुत समय बाद मन्त्र रचना का कार्य बन्द किया गया तथा ब्राह्मणों को भी वेदों से पृथक किया गया एवं निघुण्टु तथा निरुक्त आदि की रचना होने लगी। क्योंकि लोगों के अन्दर इतने बड़े दीर्घकाय ग्रन्थों के पढ़ने की शक्ति नहीं रही थी। इस लिये वेदों को भी शाखाओं में विभाजित कर दिया।

कदाचिद् ध्यायतः सृष्टुं वेदाः आसाश्चतुर्मुखात्।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान्समवेतान्यथापुरा।
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान्वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिं स्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥
भागवत पु० ३। १२। ३४। ३७

इस वृहस्पति ब्रह्मा ने विचार किया कि मैं इन (लोकों) मनुष्यों को पहले की तरह किस प्रकार सुव्यवस्थित करूं। यह विचार करते हुये उस ने चार वेदों को प्रकट किया तथा शस्त्र, यज्ञ, स्तुति, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था की

यहां प्रायश्चित की व्यवस्था बतलाती है कि उस समय लोगों में धर्म से तथा वेद आदि से अरुचि उत्पन्न हो गई थी। यह निर्माण हो चुकने के बाद भी लोगों ने अपने इष्ट देवों की उपासना के मन्त्र तथा अपनी २ रस्म रिवाजों की कवितायें बनाना

ॐनोट—सतयुग आदि की कल्पना अत्यन्त अर्वाचीन है।

नितान्त बन्द नहीं किया, अतः अपने बनाये हुये मन्त्र भी उन संहिताओं में मिलाते रहे, फिर भी कार्य कठिन होने के कारण अधिक न हो सका क्यों कि एक तो मन्त्रों के बनाने की प्रथा को बन्द कर दिया था तथा दूसरे उन का कुछ क्रम भी बन गया एक उन को शाखाओं में भी विभक्त कर दिया था इतना होने पर भी जो वेदों में अधिक विकृत भाग है उस का निर्माण द्वापर के मध्य काल से उस के अवसान तक होता रहा।

हिरण्यगर्भ ब्रह्मा

ब्रह्मात्मभूः सुरश्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः। अमरकोश।

अर्थात्—ब्रह्मा, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भः, लोकेश, स्वयंभू तथा चतुरानन। ये सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं। वैदिक साहित्य के जानकार जानते हैं कि ब्रह्मा यह उपाधि वाचक शब्द है, किसी एक व्यक्ति का नहीं है। इसी लिये वैदिक वाङ्मय में अनेक ब्रह्मा देखे जाते हैं यथा—

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणाम्।

अर्थात् देव, ऋषि, कवि और ब्राह्मणों की "ब्रह्मा" पदवी है। अर्थात जो इन में सर्व श्रेष्ठ होता था उस को ब्रह्मा की उपाधि से सुशोभित किया जाता था। आज भी यह प्रथा भारत में प्रचलित है। अतः ऊपर अमरकोश के श्लोक में जिन नामों का निर्देश है वह सब के सब उपाधि वाचक हैं। अभिप्राय यह है कि, ब्रह्मा आत्मभूः, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह आदि उपाधियां पूर्व समय में सर्व श्रेष्ठ पुरुष को दी जाती थी। जिस प्रकार श्री भीष्म जी की उपाधि पितामह थी। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ आदि उपाधियां उस पुरुष की थीं जो ज्ञान में सर्वोत्तम होता था। उसी को पुरुषोत्तम आदि भी कहते थे।

हिरण्यगर्भ का अर्थ

यद्यपि वैदिक और जैन ग्रन्थ ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं परन्तु दोनों की मान्यता में बड़ाभारी अन्तर है। हम वैदिक साहित्य से हिरण्यगर्भ के अर्थ दिखलाते हैं। सब से प्रथम शब्द 'हिरण्य है', जिस का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों ने निम्नप्रकार लिखा है।

पवित्रं वै हिरण्यम् ॥	तै० १। ७। २। ६
यशो वै हिरण्यं ॥	ऐतरेय० ७। १८
सत्यं वै हिरण्यं ॥	गो० उ० ३। १७
ज्योतिर्हिरण्यम् ॥	शत० ४। ३। १। २१
अमृत हिरण्यम् ॥	तै० १। ७। ६। ३
वर्चो हिरण्यम् ॥	तै० १। ८। ९। १
तेजो हिरण्यम् ॥	तै० ३। १२। ५। १२
प्राणो वै हिरण्यम् ॥	शत० ७। ५। २। ८
आयु र्हि हिरण्यम् ॥	शत० ४। ३। ३। २४

इत्यादि इस के अनेक अर्थ हैं। स्वर्ण अर्थ इस का प्रसिद्ध ही है। अब, गर्भ, शब्द के अर्थों पर भी विचार करें।

गर्भ शब्द के अर्थ

पुरुष उ गर्भः। जैमनीय ब्रा० उ०। ३। ३६। ३

इन्द्रियं वै गर्भः। तै० १। ८। ३। ३

प्रजा वै पशवो गर्भः। शत० १३। २। ८। ५। तै० ३। ९। ६। ४

इत्यादि इस शब्द के अनेक अर्थ हैं। तथा च इस का प्रसिद्ध अर्थ गर्भ है ही। अतः हिरण्यगर्भ का अर्थ हुआ, पवित्र-सत्य प्रातयश ओज-प-तेज, प्राणु स्वरूप आदि गुण युक्त है प्रजा जिस की वह हिरण्य गर्भ है। अथवा उपर्युक्त गुण युक्त है शरीर जिस का वह हिरण्य गर्भ है। इन गुणों से सुशोभित सब से प्रथम श्री ऋषभदेव जी ने धर्म्म प्रचार का कार्य किया।

पुराना धर्म

यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि
प्रथमान्यासन् तेहनाकं महिमानः
स चन्त यज्ञपूर्वे साध्या सन्ति देवाः

ऋ० मं० १ सू० १६४। ५० अथर्ववेद कां० ७ सू० ५। १

अर्थात् पूर्व समय में देवों ने ज्ञान से यज्ञ किया। क्योंकि प्राचीन समय का यही धर्म था। उस ज्ञान यज्ञ की महिमा स्वर्ग में जहां पहले साधारण देव रहते थे पहुंची। अथर्ववेद में आगे लिखा है कि वह ज्ञान यज्ञ यहां (भारत में) इतना उन्नत हुआ कि वह देवताओं का अधिपति हो गया। उस के पश्चात् यहां

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्तितु तस्मादो जीयो यद् विदव्यनें जिरे ॥ ४ ॥

जब यहाँ देवों ने हविरूप (द्रव्ययज्ञ फैलाया) तो भी ज्ञान यज्ञ (भाव यज्ञ) ही मुख्य था। परन्तु हवि यज्ञ के अर्थ मूर्ख देवों ने कुछ और ही समझ लिये इस लिय

मुग्धा देवा उत शुनाथजन्तोत गोरंङ्गै पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

उन्होंने पशुओं से यज्ञ आरंभ किया। यहीं तक नहीं अपितु गौ तक के अंगो से भी यज्ञ करने लगे। यह कितना सुन्दर इतिहास है। पूर्व समय हिरण्यगर्भ प्रजापति ने ज्ञानयज्ञ प्रचलित किया था यह यहाँ स्पष्ट है। उस ज्ञानयज्ञ का प्रचार भारत में नहीं अपितु सर्वत्र फैल गया। उस के पश्चात् यह द्रव्ययज्ञ का आविष्कार हुआ। परन्तु था वह भी अहिंसा प्रधान, परन्तु मूर्ख देवों ने उस के उलटे अर्थ लगाये और पशु आदि का यज्ञ

होने लगा। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि सब से प्रथम ज्ञानयज्ञ (भाव पूजा) का ही आविर्भाव हुआ था। उसी भाव पूजा को योग धर्म्म के नाम से कहा जाता है। वर्तमान पातञ्जल योग, शुद्ध योग का ग्रन्थ नहीं है अपितु सांख्य मिश्रित योग शास्त्र हैं। पुरातन योग शास्त्र तो गीता के कथनानुसार बहुत पहले ही नष्ट हो चुका था।

स चायं दीर्घकालेन, योगो नष्टः परंतपः। गीता

तथा च वर्तमान योग भाष्यकारों ने अन्त में लिखा है कि

योग शास्त्रे सांख्य प्रवचनं।

यहां 'साँख्य प्रवचनं" इस विशेषण से स्पष्ट है कि साँख्य के आधार के अलावा भी योग शास्त्र वहाँ थे। और वे थे हिरण्यगर्भ ब्राह्मण का बनाया हुआ योग शास्त्र अथवा किसी अन्य नाम से इस विषय का ग्रन्थ तथा च वर्तमान योग के प्रारम्भ में ही लिखा है कि—

अथ योगानुशासनम्

यहां अनुशासन शब्द भी अन्य योग शास्त्र की सूचना देता है। जिस का यह अनुशासन है। गीता में योग का अर्थ बहुत ही सुन्दर किया है।

तं विद्याद् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ गीता ६। २३

अर्थात् - हमारे सशरीर जीवन में दुःख का संयोग है। इस दुःख का जो वियोग अर्थात् नष्ट होना है उसी का नाम योग है। उसी योग में आत्मा अपनी दिव्यता के साथ स्थिति करता है। यहाँ अत्यन्त मौलिक शब्दों में योग का अर्थ दुःखों से छूटना तथा मुक्ति अथवा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होने का नाम

योग बतलाया है। इस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का जो मार्ग है उसी को योग मार्ग अथवा जैन मार्ग कहते हैं। तथा च

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता। ४। ३८

के अनुसार ज्ञानयोग के समान कोई मार्ग पवित्र नहीं समझा जाता था।

ज्ञानाग्नि सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ ४। ३७

अर्थात्—योगी लोग ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण कर्म्मों को भस्मसात् करते हैं। भाव कर्म और द्रव्य कर्म भेद से कर्म दो प्रकार के हैं। पुनः इन के भेदोपभेद हो कर अनेक प्रकार के कर्म होते हैं। ज्ञान और तप की अग्नि से ये सम्पूर्ण भस्म हो जाते हैं। इस पुरातन ज्ञान योग की महिमा से सम्पूर्ण भारतीय शास्त्र ग्रथित हुआ है। प्राचीन धर्म्म योगशास्त्र ज्ञान योग का था। ज्ञान योग का अभिप्राय जो आज लिया जाता है वह कदापि न था। अपितु ज्ञानपूर्वक तप का नाम ज्ञानयोग था। अर्थात् ज्ञानपूर्वक क्रिया में लगने का नाम ज्ञान योग था। अथवा योग का अर्थ जैसा कि गीता में कहा है स्वशुद्ध अवस्था में प्राप्त होना था। उसी के लिये सम्पूर्ण क्रियायें करने का नाम योग की क्रियायें था। बाद में जाकर उस योग के भी अनेक भेद हो गये और पुनः लोगों ने मुक्ति को भुला कर स्वर्ग का आसरा लिया और यज्ञ आदि का प्रचार हो गया। हम अपनी पुष्टि में यजुर्वेद का प्रमाण उपस्थित करते हैं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः

यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३१ में आया है। इस का भाष्य करते हुये भाष्यकार श्री महीधर लिखते हैं कि—

यज्ञेन मानसेन संकल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त

अर्थात् देवों ने मानस संकल्परूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की। बस हमारा अभिप्राय सिद्ध हो गया कि वर्तमान वेदों से पहले जो धर्म्म थे वे भावपूजक धर्म थे। तथा च इसी अध्याय के मन्त्र १४ का भाष्य करते हुये श्री महीधर लिखते हैं कि यहां मन्त्रों का सिलसिला ठीक नहीं हैं।

मन्त्रों का क्रम ऐसा होना चाहिये था, कि मन्त्र १४ के पश्चात् मन्त्र ९ 'तं यज्ञं' यह होना चाहिये था। तथा इस के पश्चात् मंत्र ६ "तस्माद् यज्ञात्" यह मन्त्र होना चाहिये था तत्पश्चात् मन्त्र १५ होना ठीक था। जो कुछ भी हो चारों वेदों में यह क्रम का व्यतिक्रम प्रत्यक्ष है। परन्तु धर्मान्ध लोगों को कौन कहे। अब अन्य मन्त्रों के भाष्य में महीधर ने क्या लिखा है यह भी पठनीय है।

तं यज्ञं बर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये ॥

यज्ञं यज्ञ साधनभूतं तं पुरुषं बर्हिषि मानसे यज्ञे (प्रौक्षन्) प्रौक्षितवन्तः। तेन पुरुषरूपेण यज्ञेन मानसयागं निष्पादितवन्तः के ते देवा, ये साध्याः, सृष्टिसाधन योग्या प्रजापति प्रभृतयः। ये च तदनुकूला ऋषयः।

अर्थात् यज्ञ साधनभूत पुरुषरूपी यज्ञ से देवों ने मानस यज्ञ निष्पन्न किया। वे देव प्रजापति आदि तथा उन के अनुकूल ऋषि आदि थे। यही भाव मन्त्र १४ के भाष्य में है। तथा मन्त्र १५ में भी महीधर ने विस्तारपूर्वक इस मानसयज्ञ का वर्णन किया है। इस के पश्चात् मन्त्र १६ "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" यह मन्त्र है। बस गीता महाभारत, पुराण, तथा वेद और सम्पूर्ण जैन साहित्य

इस की साक्षी देता है कि वर्तमान नवीन वेदों से पहले जो यहां धर्म था वह वर्तमान याज्ञिक धर्म से भिन्न आत्मवाद का धर्म था। उस का नाम योगमार्ग अथवा मोक्षमार्ग किंवा जिनमार्ग आदि आप कुछ भी रखलें। वर्तमान योगदर्शन भी नवीन योगमार्ग है। पुरातन योगशास्त्र तो नष्ट होगया जैसा कि गीता में कहा है।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः।

अर्थात् वह योग दीर्घकाल से नष्ट होचुका है।/

वैदिक धर्म

यह प्रश्न बड़ा जटिल है कि वैदिक धर्म क्या है ? इस का कारण वेदों में भिन्न बातों का उपलब्ध होना है । यह निश्चित सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु का क्रमिक विकास होता है, इस लिये जितने भी धर्म हैं उन सब का भी क्रमिक विकास होना निश्चित है । दूसरी बात कारण की है । कोई भी कार्य हो उस के लिये कारण की आवश्यकता अवश्य होती है, अभिप्राय यह है कि बिना कारण संसार में कोई भी कार्य नहीं हो सकता । ये दोनों नियम धर्म के लिये भी उतने ही जरूरी हैं जितने अन्य बातों के लिये । इसलिये प्रत्येक धर्म के क्रमिक विकास का पता लगाना तथा उस के प्रादुर्भूत की आवश्यकता बतलाना धार्मिक इतिहास का मुख्य अंग है । परन्तु वैदिक धर्म के क्रमिक विकास

के इतिहास का पता लगाना एक कठिनतर कार्य ही नहीं अपितु असंभव सा ही कार्य है। उस का कारण है प्राचीन साहित्य का उपलब्ध न होना। दूसरी बात है कि उस धर्म के जन्म की जनता को क्यों आवश्यकता हुई, इस का भी आज वही हाल है। सब से बड़ी बात तो यह है कि वैदिक धर्म का क्या स्वरूप था यह जानना भी आज कठिनतर है। वर्तमान समय में हिन्दू धर्म के जितने भी भेद हैं वे सभी अपने मत की पुष्टि में वेदों का प्रमाण देते हैं तथा एक दूसरे को अवैदिक आदि कहते हैं। वैदिक साहित्य के अर्थ भी सब अपने २ मत का पुष्टिपरक ही करते हैं। यही कारण है कि भारत का इतिहास तिमिराच्छन्न है। हमारे स्वाध्याय ने हमें इस परिणाम पर पहुँचाया है कि ये सभी मत वाले सचाई पर हैं। इन सब का ही मूलस्रोत वेद है। वेद किसी एक मनुष्य द्वारा एक समय में नहीं बनाये गये अपितु भिन्न २ आचार्यों ने भिन्न २ समय में इन के मन्त्रों की रचना की है। इन भिन्न २ आचार्यों के मत भी भिन्न २ थे इस लिये वैदिक साहित्य पृथक २ मतों का उद्गमस्थान निश्चित है। वेदों की रचना कैसे हुई तथा किन २ महापुरुषों ने वेद बनाये तथा वेद क्यों बनाये हम इन बातों का सविस्तार वर्णन 'वैदिक ऋषिवाद' नामक ग्रन्थ में कर चुके हैं। इस पुस्तक पर भारत के बड़े से बड़े विद्वानों की शुभ सम्मति प्राप्त हुई है। यह पुस्तक इस विषय में अनुपम है जो भाई इस विषय का देखना चाहें उस का अध्ययन करें। प्रकृत विषय यह है कि वेद भिन्न २ आचार्यों के बनाये हुये होने से उन में सभी भारतीय प्राचीन धर्मों का उल्लेख है। इस दृष्टि से सभी वैदिकधर्मी होनेका दावा कर सकते हैं। जब यह बात है तो प्राचीन धर्म का निर्णय किस आधार पर करें यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसी प्रश्न को

हल करना इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। इस से पूर्व कि नवीन वेदों के विषय में कुछ लिखें हम आवश्यक समझते हैं कि प्राचीन वेद के विषय में कुछ प्रकाश डालें।

प्राचीन वेद का पता हमें ऋग्वेद से भी चलता है।

यथा ऋग्वेद मण्डल १ सू० ९६। मं० २

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाप्रजा अजनयमनूनाम्

अर्थ—इस भरत ने अयु के प्राचीन निविद मन्त्रों से मनुओं को प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् उन मन्त्रों के आधार पर ही प्रजा का पालन पोषण किया, व नियमादि उसी के आधार पर बनाये। यहां ऋषभ-पुत्र भरत का ही अर्थ है यह हम 'भारत का आदिसम्राट' नामक पुस्तक में सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं। इस से अगले मन्त्र ३ से स्पष्ट ही हमारे अर्थ की पुष्टि होती है। अभिप्राय यह है कि इन नवीन वेद मन्त्रों से पहले निविद मन्त्र थे। इन का कथन वेदों में अन्य अनेक स्थानों पर भी आया है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि वे निविद मन्त्र अब गर्भ में चले गये अर्थात् वे अब विलुप्त हो चुके हैं।

गर्भा वं एते उक्थानां यन्निविदः
पेशा वै एते उक्थानां यन्निविदः। ऐतरेय ब्रा० ११। ३।

ये निविद मन्त्र कौन से थे? इस का पता हमें महाभारत से चलता है। महाभारत शान्ति पर्व, राजधर्म के प्रारम्भ में महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म जी से प्रश्न किया है कि राजन शब्द किस प्रकार उत्पन्न हुआ। इस का उत्तर भीष्म जी ने दिया है कि जब लोक में काम क्रोध आदि बढ़ गये तब ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों का एक बृहद् ग्रन्थ बनाया, उस में धर्म के सम्पूर्ण तत्वों का वर्णन था तथा राजनीति का भी उस में सविस्तार वर्णन था। ब्रह्मा ने वह ग्रन्थ

पृथ्वी के प्रथम सम्राट महाराज अनंग को दिया और उस से कहा कि इस के अनुसार राजकार्य करो। यह अनंग श्री ऋषभदेव जी के ज्येष्ठ पुत्र भरत हैं यह हम ने 'भारत का आदि सम्राट' में सविस्तार सिद्ध किया है विशेष देखने के इच्छुक वहां देखें।

ऋग्वेद ने जो कथन किया था उ ी की पुष्टि महाभारत ने की है। इस लिये यह सिद्ध है कि वे निविद मन्त्र श्री ऋषभदेव जी के बनाये हुये प्राचीन मन्त्र थे। श्री ऋषभदेव जी के अनेक नाम थे सम्भव है उन में एक नाम 'अयु' भी हो। यह तो निर्विवाद बात है कि ब्रह्मा और श्री ऋषभदेव जी एक ही व्यक्ति थे। ब्रह्मा नाम के अनेक व्यक्ति हुये हैं इन का कुछ संक्षिप्त परिचय हम यहां देते हैं जिस से यह विषय सुस्पष्ट हो जाये।

प्रथम ब्रह्मा

संसार में जितने भी धर्म हैं उन सब में एक विचित्र साम्य है। उन का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने से यह भली भांति विदित हो जाता है कि ये सब एक ही स्रोत में से निकले हैं। अनेक विद्वानों ने इस को सिद्ध किया है कि इन सब धर्मों का उद्गम स्थान भारतवर्ष है। हम इस का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे करेंगे। प्रथम हम भारतवर्ष में धर्म का प्रसार कैसे हुआ तथा किसने किया, इस बात पर विचार करते हैं। वर्तमान समय में वेद सब से प्राचीन पुस्तकें हैं। अतः अनेक विद्वानों के मतसे सबसे पुराना वैदिक धर्म है। हम ने दीर्घ काल तक वेदोंका स्वाध्याय किया है उस से हमारा अपनी सम्मति है कि वेद किसी एक जाति अथवा धर्म का ग्रन्थ नहीं है अपि तु वेद अनेक मनुष्यों द्वारा विभिन्न समयों में ब . हैं, इसलिये उन में सभी धर्मों का इतिहास तथा सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। हम ने 'वैदिक ऋषिवाद'

नामक पुस्तक में इस विषय को विस्तारपूर्वक सप्रमाण सिद्ध किया है। अतः वैदिक धर्म से क्या अभिप्राय है यह कहना कठिन है। परन्तु वेदों में तथा अन्य भारतीय साहित्य में धर्म के इतिहास पर अवश्य प्रकाश डाला है, हम उसी के सहारे इस विषय का विवेचन करेंगे। भारत का प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत है प्रथम उसी के प्रमाणों पर विचार करते हैं।

योगमत

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४९ में कहा है कि—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥

अर्थात् योगमार्ग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हैं। इस से पुराना मार्ग अन्य नहीं है। अभिप्राय यह है कि योग ही सब से पुराना मार्ग है। इसी श्लोक को पातञ्जल योग के प्राचीन टीकाकारों ने अपने अपने भाष्य में लिखा है और सब ने यह स्वीकार किया है कि योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ ब्रह्मा थे। शान्ति पर्व के अ० ३४२ श्लोक ९६ में लिखा है कि--

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषः छन्दसि स्तुतः।
योगैः संपूज्यते नित्यं स च लोके विभु स्मृतः ॥

अर्थात्—यह (कान्तिमान) हिरण्यगर्भ वही हिरण्यगर्भ हैं जिन की योगी लोग नित्य पूजा करते हैं तथा जो लोक में विभु प्रसिद्ध हैं। तथा जिन का वर्णन वेद में आया है। श्रीमद् भागवत स्कन्द ५।१९।१३। में भी यही कहा है कि योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं। वायुपुराण ४।७८। में ऐसा ही कथन है। अभिप्राय यह है कि भारतीय प्राचीन वाङ्मय का यह एकमत सिद्धान्त है कि योगमार्ग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हुये हैं। महाभारतकार का

स च लोके विभुः स्मृतः

वाक्य बड़े महत्व का है। इस वाक्य से वैदिक साहित्य की अनेक उलझनें सुलझ जाती हैं। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हुये हैं जिन्होंने योग मत का प्रचार किया था वे इसी मार्ग से कैवल्य (मुक्ति) को प्राप्त हुये, लोगों ने उन को विभु परमात्मा माना। भारतीय मनोवृत्ति ही ऐसी नहीं है अपि तु अन्य देशों की भी यही व्यवस्था है। आज मसीह को ईश्वर का पुत्र तथा ईश्वर मानने वाले करोड़ों हैं। भगवान राम और भगवान कृष्ण पूर्ण परमात्मा माने जाते हैं। अब जब उन को परमात्मा मान लिया तो परमात्मा के सभी गुणों का उन में आरोपित करना भी आवश्यक होजाता है। इस लिये हिरण्यगर्भ में परमात्मा के सब गुणों को आरोपित करके ऋ० १० सूक्त १२१ में हिरण्यगर्भ की प्रशंसा की गई है। यह भाव महाभारत के (स च लोके विभुः स्मृतः) श्लोक का है। इसे अर्थवाद कहते हैं। यह मुक्तात्माओं की प्रशंसामात्र है वास्तविक नहीं। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी समझ लेना चाहिये। ईश्वर विषयक तथा जगत की उत्पत्ति विषयक वर्णन आगे करेंगे।

योग की प्राचीनता

योग की प्राचीनता के विषय में वेद भी प्रमाण हैं। ऋग्वेद में आया है कि—

> यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन
> सधीनां योग मिन्वति। ऋ० १। १८। ७

अर्थात् बिना योग के किसी विद्वान का कार्य भी सिद्ध नहीं होता ऐसा यह चित्त वृत्ति निरोधरूप योग है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर योग का वर्णन आया है। इसी प्रकार सामवेद तथा

यजु० और अथर्ववेद में भी अनेक स्थलों पर योग का उल्लेख है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी योग का उल्लेख विस्तार पूर्वक आया है।

अध्यात्म योगाधिगमेन देवम्। कठोपनिषद् । १ । २ । १२

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।

कठो० २ । ६ । १२

इसी प्रकार बृहदारण्यक आदि अनेक उपनिषदों में योग का कथन है। इन उपरोक्त प्रमाणों से योग की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। अब हमें इस विषय का विचार करना है कि योग मार्ग क्या है। उस के क्या २ सिद्धान्त हैं तथा प्राचीन समय में उस का क्या स्वरूप था। इस मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्त क्या थे, एवं इस का आधार धर्म क्या था। इन बातों पर प्रकाश केवल महाभारत से पड़ सकता है। क्यों कि प्राचीन इतिहास के लिये हमारे पास एक मात्र साधन यही महान ग्रन्थ है।

योग के तत्व

योग कितने पदार्थों को मानता था इस विषय में महाभारत कहता है कि—

पंचविंशति तत्वानि तुल्यान्युभयतः समम् शां० २३६। २९

अर्थात् सांख्य और योग में २५ तत्वों की मान्यता समान है। वर्तमान योग में इस का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आगे अध्याय ३०७ के अन्त में कहा है कि सांख्य २५ तत्वों के आगे कुछ भी नहीं मानता; परन्तु योग शास्त्र में २६ वां तत्व परमेश्वर भी माना गया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि योग का ईश्वर क्या है, अर्थात् वह कोई प्रथक सत्ता है जैसा कि आज-कल मानते हैं अथवा मुक्तात्मा का नाम ही परमात्मा है। इस का उत्तर महा-

भारतकार स्वयं ही देते हैं। यथा

बुद्ध मतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्वतः।
बुध्यमानं च बुद्धं च प्राहुर्योग निदर्शनम् ॥ शां० २०८।४६।

अर्थात् योग शास्त्र में परमेश्वर बोध स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) है, परन्तु वह अज्ञान वश जीव दशा को प्राप्त हो रहा है। अर्थात योग की परिभाषा में दो पदार्थ हैं, एक बुद्ध, और बुध्यमान बुद्ध परमात्मा और बुध्यमान जीवात्मा। जब बुध्यमान जीव केवली अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वही बुद्ध हो जाता है। महाभारत स्वयं कहता है कि—

यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान न पुनर्जन्म विद्यते ॥ शां० ३१६

जब वह जीव केवली हो जाता है तो सम्पूर्ण २६ पदार्थों को प्रत्यक्ष देखता है ऐसे सर्वज्ञ ज्ञानी का पुनः जन्म, मरण नहीं होता।

इस अध्याय में विस्तार पूर्वक इस विषय का वर्णन है। अभिप्राय यह है कि योगमत का ईश्वर मुक्त आत्मा ही है, आत्मा से प्रथक एक व्यक्ति विशेष ईश्वर नहीं है। इसी लिये गीता में स्पष्ट कहा है कि—

सांख्ययोगौ प्रथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

अर्थात् सांख्य और योग में भेद बालक (अनभिज्ञ) मानते हैं पण्डित लोग भेद नहीं मानते। परन्तु याद रखना चाहिये कि अतिसूक्ष्म अन्तर अवश्य है, उस का यहाँ निषेध नहीं है। योगमत आत्मा के दो भेद करता है एक विकारी आत्मा और एक शुद्धात्मा। विकारी का नाम आत्मा तथा शुद्धात्मा का नाम पर

आत्मा है। परन्तु सांख्यशास्त्र आत्मा की अशुद्ध अवस्था को स्वीकार नहीं करता, वह सुख-दुःख आदि-सब मन आदि को होना मानता है। इस लिये उस के मत में आत्मा के दो भेद नहीं हैं। याद रखना चाहिये कि सांख्य और योग में आत्मा पृथक २ हैं तथा वे अणु परिमाण वाले हैं तथा आत्मायें अनन्त हैं। जयचन्द्रजी विद्यालंकार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में योगमत का वर्णन करते हुये उपरोक्त सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। उन का कथन है कि योग का ईश्वर, बुद्ध, महावीर, श्रीकृष्ण अथवा राम के समान मुक्त आत्मा ही है। अभिप्राय यह है कि योग का तात्विक सिद्धान्त जड़ और चैतन्य दो पदार्थों को मानता है और वह सांख्यों के अनुकूल ही हैं। इस लिये २५ तत्वों का कथन हम सांख्य के वर्णन में करेंगे।

॥ योग का आचार धर्म ॥

अहिंसा

योग सम्प्रदाय का सब से मुख्य सिद्धान्त है अहिंसा। इस के बिना कोई भी व्यक्ति योगमार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता। योगी के लिये मांस भक्षण एक जहर का कार्य करता है। इसलिये उस को इस से प्रथक रहना चाहिये। इतना ही नहीं अपितु उस को छोटे २ क्षुद्र वस्तुओं पर भी दया पालनी आवश्यक है। इस से मार्दव गुण उत्पन्न होता है। मार्दवता योगी के लिये परमावश्यक है। इस के बिना योगी आगे की उन्नति नहीं कर सकता। बस योगियों का प्रथम धर्म पूर्ण अहिंसा बतलाया है। प्लेटो के तत्वज्ञानी ग्रीक वालों का भी अहिंसा धर्म था।

यूनान के प्राचीन इतिहासकार हिरोडोटस ने ई० पू० ४५० लिखा है कि हिन्दुस्तान के जंगलों में रहने वाले योगी और

तपस्वी लोग अहिंसा धर्म को मानते हैं। वे कभी मांसाहार नहीं करते। इस से तथा महाभारत के शान्ति पर्व के उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि योगमार्ग पूर्ण अहिंसा का प्रतिपादक था।

वर्तमान पातञ्जल योग में अहिंसा का प्रथम स्थान है। तथ्य तो यह है कि भारतीय धर्म अहिंसामय ही था। उस के पश्चात् अनार्यों ने आकर यहाँ हिंसा धर्म का प्रचार किया है। योगियों के लिये अहिंसा का अर्थ यहीं तक सीमित नहीं है कि वह निरपराध जीवों को कष्ट न दे, अपि तु उस के अन्दर पूर्ण क्षमा का भाव होना चाहिये। अर्थात् यदि कोई उस का कुछ अपराध भी करे तो भी उसे क्षमा का त्याग नहीं करना होगा। इसी का नाम उत्तम (पूर्ण) क्षमा है।

मार्दव

उच्चावस्था प्राप्त होने पर भी नम्रीभूत रहना किसी प्रकार का अभिमान न करना।

आर्जव

योगी को सरल प्रकृति का होना चाहिये। मन, वचन, काय की एकयता होनी चाहिये। कुटिलता का भाव भी उस में नहीं आना चाहिये।

सत्य

योगी का कर्तव्य है कि प्रत्येक अवस्था में सत्य ही बोले अथवा मौन रहे परन्तु असत्य भाषण कभी न करे।

अस्तेय

बिना अनुमति मालिक की दूसरे की वस्तु को लेने का विचार कभी मन में भी न आने दे।

ब्रह्मचर्य

सर्व सांसारिक भोगों की कांक्षा को त्याग कर स्वात्मा (ब्रह्म) में लीन रहना। तथा प्रत्येक प्रकार के मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।

शुद्धता

शारीरिक व मानसिक पवित्रता का नाम शौच (शुद्धता) है। भोजन की शुद्धता अवश्यंभावी है।

अपरिग्रह

जहां तक हो सके सांसारिक पदार्थों का त्याग करना धन को संग्रह न करना।

सन्तोष

प्रत्येक अवस्था में भयानक से भयानक अवस्था में भी मन को प्रसन्न रखना, तथा उसी हालत में सन्तुष्ट रह कर आत्म-ध्यान में लीन रहना।

तप

उपवास आदि करना तथा शीतोष्ण आदि सहन करना।

स्वाध्याय

नित्य प्रति स्वाध्याय करना, अथवा सत्संग करना। अथवा धर्म चर्चा एवं उपदेश देना।

विनिद्रा

महाभारत में योगी के लिये निद्रा, पर विजय पाना भी लिखा है। वह कम सोने का अभ्यास करे तथा क्रमशः सोना बिलकुल बन्द कर दे।

आलस्य त्याग

अपने जीवन में जो कुछ भी दिन चर्या बना ली हो वह कार्य ठीक उसी समय करना, उस में आलस्य या प्रमाद न करना।

आहार

महाभारत में योगी का आहार लिखा है कि वह जुआर के कणों की लप्सी अथवा दलिया बिना घी के खाये। अथवा योगी पानी मिला कर दूध पिये तो उस को योग बल की प्राप्ति होती है। यह आहार विधि शायद गीता के अनुकूल न हो। वर्तमान योग के ग्रन्थों में भी इस आहार का विधान नहीं है। आहार शुद्ध तथा सात्विक होना चाहिये इतना ही विधान वर्तमान में माना जाता है।

योग का अधिकारी

महाभारत में प्रत्येक मनुष्यमात्र [illegible] मार्ग का अधिकारी लिखा है। शान्ति पर्व अध्याय २४० में [illegible] है कि हीनवर्ण के पुरुषों को तथा धर्म की अभिलाषा रखने वाली स्त्रियों को भी इस योग मार्ग से सद्गति मिलती है।

> अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षि
> तावप्यनेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ २४० ।३४।

यही भाव गीता का है—

> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अनेक विद्वानों के मत में यह भाव बुद्ध भगवान से लिये गये हैं। पूर्व समय में स्त्रियों को तथा शूद्रों को मुक्ति का अधिकार नहीं था, ऐसा अनेकों ने लिखा भी है। परन्तु हमारा यह विषय

नहीं है हमें तो ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना है।

अभिप्राय यह है कि प्रारम्भ में आवश्यकतानुसार साधारण धर्म की स्थापना हुई। उस में गृहस्थ धर्म तथा संन्यास धर्म का भाव था। आत्मा शरीर से पृथक है और वह स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध स्वभाव वाला है, कर्मों के आवरण से बृद्धावस्था में है इस लिये इन कर्मों को काट कर मुक्ति प्राप्त करना मनुष्य का अन्तिम ध्येय है। यह योग का साधारण धर्म था।

आत्मा

सब से प्रथम भारतवर्ष में ही इस आत्मवाद का आविष्कार हुआ। आत्मा शरीर से पृथक है और शुद्ध स्वरूप है यह सिद्धान्त भारतीयों का प्राचीन काल से चला आ रहा है। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो संसार के सभी मत तथा अध्यात्मवेत्ता इसी एक प्रश्न को हल करने में लगे हुये हैं कि आत्मा क्या है? सभी विद्वानों ने अपनी २ शक्ति के अनुसार इस का निर्णय किया है परन्तु कह नहीं सकते कि यह प्रश्न कहां तक हल हुआ है। नास्तिक मत भी भारत में प्राचीन काल से चला आता है। उन का कथन है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इसीलिये उन का स्थान धार्मिकतत्ववेत्ताओं में नहीं है। धार्मिकतत्ववेत्ताओं ने आत्मा को माना है। पाश्चात्य देश के प्राचीन विद्वानों ने भी इस को माना है। भारतवर्ष का आत्मिक सिद्धान्त ग्रीक लोगों तक ने स्वीकार किया था।

कर्म सिद्धान्त

जब आत्मा शरीर से पृथक पदार्थ है यह मान लिया तो स्वाभाविक ही यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि हम को सुख दुःख क्यों होते हैं। तथा शरीर ही क्यों धारण करना पड़ता है। इस का उत्तर

आर्यतत्ववेत्ताओं ने कर्म फिलासफी के सिद्धान्त से दिया। योग शास्त्र ने बतलाया कि आंख आदि इन्द्रियें मन को विषयों की ओर बारंबार बलात् खेंचती हैं।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। गीता।

यही दुःख का कारण है। इस लिये इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहिये। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन्द्रियें मन को क्यों विषयों की ओर खेंचती है, तथा मन ही इन्द्रियों के वशीभूत होकर उधर क्यों चल जाता है तो इस का उत्तर यह दिया गया है कि मन में वासना है वह उधर को प्रेरित कर देती है। वासना कहाँ से आई इस प्रश्न का उत्तर योगकार ने दिया है कि कर्म से उत्पन्न होती है और वासना से कर्म उत्पन्न होते हैं। तथा कर्म अनादिकाल से चले आते हैं। परन्तु इन्द्रिय निरोध से तथा समाधि योग से कर्मों को भस्म किया जासकता है। जिस प्रकार बीज के भस्म होने से पुनः वह नहीं उगता इसी प्रकार कर्म भस्म होने पर पुनः जन्म मरण नहीं होता। वह आत्मा आवागमन के चक्कर से निकल कर अपने असली स्वरूप में आजाता है। इस का नाम योग और सांख्य को परिभाषा में कैवल्य है। इस का अर्थ है केवली अवस्था अर्थात् शुद्धावस्था।

उपवास की तिथियां

महाभारत के अनुशासन पर्व के १०५-१०६ अध्यायों में उपवासों का विस्तार पूर्वक कथन है। वहां लिखा है कि—

नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातृ समो गुरुः।
नास्ति धर्मात् परो लाभस्तपो नानशनात्परम्॥

अ० १०६

यहां कहा है कि उपवास से परं तप कोई नहीं है। उपवास के बारे में लिखा है कि उपवास १ दिन का २ दिन का ३ दिन का। बढ़ाते २ एक वर्ष तक के उपवास की विधि है। तथा लिखा है कि वैश्य और शूद्र एक दिन से अधिक का उपवास न करें। एकाहार का नाम भी उपवास रक्खा है। वहाँ उपवास की तिथियों का भी उल्लेख है। यथा पञ्चमी, षष्ठी, कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी। एकादशी आदि तिथियों का वर्णन उपवास के लिये महाभारत में नहीं है।

आचार

/आचार में अहिंसा प्रधान था। भगवान कृष्ण ने एक स्थान पर कहा है कि—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतं वा वदेत् वाचं न च हिंस्यात्कथंचन ॥

कर्णपर्व अ० २३ श्लो० ६९

अर्थात् अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है ऐसा मेरा मत है। आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य झूठ तो बोल सकता है परन्तु किसी प्राणी की हिंसा कदापि नहीं करनी चाहिये। भगवान कृष्ण का अहिंसा के विषय में इतना जोर देना उस की सर्व श्रेष्ठता का प्रबल प्रमाण है।//

योग के मुख्य अंग

मनुष्य के हृदय में शान्ति की अभिलाषा जन्म से ही उत्पन्न होने लगती है। मानव समाज का प्रत्येक प्राणी अहर्निश सुख प्राप्ति के लिये सचेष्ट रहता है। परन्तु सांसारिक वातावरण के अशान्त होने के कारण इस विश्व वन में उसे कहीं सुख का चिह्न भी दिखाई नहीं देता, ऐसा दर्शन शास्त्रों का मत है, फिर भी यह निश्चित है कि यदि मनुष्य अपनी चञ्चल प्रवृत्तियों पर आधिपत्य करले और अपने सांसारिक कर्तव्यों का यथोचित पालन करता रहे तो उसे कदापि दुःख के अनुभव करने का अवसर प्राप्त न होगा और वह अपनी भावनाओं के अनुकूल शान्ति का भी उपभोग करता रहेगा। विद्वानों का कथन है कि मानव जीवन की सफलता इसी प्रकार अपनी चित्तवृत्तियों के निरोध का अभ्यास

बढ़ाने में तत्पर रहते हुए निष्काम कर्म करने में है। यही जीवन-विकास और आत्मोत्थान का सर्व श्रेष्ठ सरल उपाय है। इसी के द्वारा हमारी आत्मशक्ति और प्राणों की वृद्धि होती है। यह समझ लेने की बात है कि जब आहार विहार में थोड़ा थोड़ा संयम का अभ्यास बढ़ाने और स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करने से ही अपने शरीर में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है, तब योग-साधन जैसे सर्वोच्च संयम एवं मार्ग का अवलम्बन करने से तो अवश्य ही हमारी आत्मशक्ति में असाधारण वृद्धि होगी, इस में सन्देह नहीं।

जो लोग यह समझे हुए हैं कि योगाभ्यास हमारे लिये कोई उपयोगी वस्तु नहीं, इस के अपनाने से हमें कोई लाभ नहीं, यदि यह लाभप्रद भी हो तो उन्हीं के काम की चीज है जो संसार से विरक्त हो गये हैं और संसार के कार्यों से जिन का अब सम्पर्क नहीं रहा है, तो वे अवश्य ही भ्रम में हैं। योग किसी मनुष्य विशेष की सम्पत्ति नहीं है, वह तो मनुष्यमात्र के अपनाने की वस्तु है। उस पर जैसा संन्यासियों का अधिकार है, गृहस्थ भी तदनुरूप उस के अभ्यास के पात्र हैं। इस के सम्बन्ध में छोटे बड़े का प्रश्न भी कुछ महत्व नहीं रखता। बाल-वृद्ध स्त्री और पुरुष सभी इस के अभ्यास के अधिकारी हैं। हाँ! उन में कुछ योग्यता का होना अवश्य अपेक्षित है। मुझे तो यह भी मिथ्या प्रतीत होता है कि योगाभ्यास से हमें कुछ भी लाभ नहीं है। क्योंकि कोई भी विचार-शील योगाभ्यास के जो चमत्कार वर्तमान में देखे जा रहे हैं, और प्राचीन साहित्य में जो इस के लाभों का विस्तृत वर्णन किया गया है, उस का अवलोकन कर इस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। प्राचीन काल में योगाभ्यास के कारण ही अनुपम शांति रही।

आध्यात्मिक युग में हमारे पूर्वज, जिन को आधुनिक सभ्यता के पक्षपाती मनुष्य चाहे असभ्य ही क्यों न मानते रहें, योग के चमत्कारपूर्ण साधनों में वे इस में अवश्य ही कोसों आगे बढ़े हुए थे। योगाभ्यास उन का नित्यकर्म था। उन्हें अच्छी तरह प्रतीति हो गई थी कि शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का योगाभ्यास के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक साधन नहीं है। इसी कारण उन्हों ने योगमार्ग का आश्रय लिया और इस पथ में अधिक से अधिक आगे बढ़ने का प्रयास किया। इस विश्व-शांति के अनुपम मार्ग का दृढ़ता से अवलम्बन किये रहने का परिणाम यह निकला क आध्यात्मिक उत्कर्ष पर से दृष्टि उठा कर उन्होंने भौतिक उन्नति करने का संकल्प भी नहीं किया। उन के विचारों में आध्यात्मिक शक्ति संवर्धन के समक्ष भौतिक उन्नति का कुछ भी महत्व प्रतीत नहीं हुआ। परन्तु ज्यों ज्यों आर्यों की सभ्यता का ह्रास हुआ, उनका तत्वज्ञान लुप्त होने लगा; सभ्यता की घुड़ दौड़ में प्राचीन संस्कृति और विद्याओं का क्रम इतस्तत छिन्न भिन्न हो गया। सामयिक अशांति के कारण लोगों ने योगाभ्यास की क्रियाओं की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। ऐसा होने पर जड़वाद का प्रचार होते होते एक वह समय भी आ पहुँचा जिसे व्यतीत हुए अधिक काल नहीं हुआ—जब कि लोगों ने योग को निकृष्ट वस्तुओं में समझ लिया। अस्तु!

योग के इस अपकर्ष काल में भी इन दिनों में अनेक ऐसे दिव्य पुरुषों का जन्म हुआ है, जिन्होंने अपने जीवन में योगाभ्यास से अधिक आनन्द प्राप्त किया है और योग के अद्भुत चमत्कारों का संसार को परिचय कराया है। अनेकों महानुभावों ने तो योग साधन से ऐसी अद्भुत शक्तियाँ भी प्राप्त की हैं, जिन

का होना ही जन साधारण की दृष्टि में आश्चर्य की बात है।

आधुनिक युग में होने वाले योगियों में स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। चाहे हमारा इनके साथ कितना ही मतभेद क्यों न हो। योगाभ्यास के लिये हम इन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इन सब महानुभावों ने योगाभ्यास में उत्कर्ष प्राप्त करने के कारण ही जनता पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था और अपने सिद्धान्तों का संसार में इतनी अधिक मात्रा में प्रचार बढ़ाया था। एकाग्रचित्त हो योगाभ्यास में रत रहने के कारण ही स्वामी रामतीर्थ को सिंह जैसे भयानक और हिंसक जन्तु भी कुछ हानि न पहुँचा सके। उन में भय न हो कर उन के आन्तरङ्गिक प्रेम-भाव प्रकट हो गया या यों भी कह सकते हैं कि उन का सच्चा प्रेम एक आत्म-तत्व से ही रहा। वे उसे ही पूर्ण बनाने की साधना में संलग्न रहे, जैसे संसार के सभी विषयों से उन का राग और द्वेष नष्ट हो गया हो। विवेकानन्द और दयानन्द की प्रभावशालिना भाषण शक्ति का भी योगसाधन के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। इन के अतिरिक्त और भी अनेकों ऐसे दृष्टान्त हैं, जिन से योगाभ्यास के चमत्कारा का परिचय मिलता है। जिन (योगाभ्यास से संसाध्य) कार्यों को आधुनिक विज्ञान ने भी असम्भव उद्घोषित किया है उन सब में योगाभ्यास कृतकार्य हो सका है, इस बात को आप मिथ्या न समझिए, इस का सजीव प्रमाण दो-तीन वर्ष पूर्व आप लोगों ने प्रायः सभी प्रसिद्ध पत्रों में पढ़ा होगा, जो कलकत्ता प्रयोगशाला की एक आश्चर्य-पूर्ण घटना का उल्लेख था। इस में बताया गया था कि यहां जिन योगी महानुभाव का, यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ तो गोविन्द

स्वामी का परीक्षण किया गया था, उन्होंने बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की उपस्थिति में अपने केवल प्रबल योगाभ्यास के कारण ऐसे तीक्ष्ण विषों, वस्तुओं, कील कांटों आदि को भी उदरसात् कर लिया, जिन के पेट में चले जाने पर मनुष्य कभी नहीं बच सकता। वैज्ञानिकों का कहना है कि जिस तेज से तेज विष को उन्होंने पिया, उस में तांबे का पैसा भी पड़ कर क्षणमात्र में तरल हो जाता है, और मनुष्य जैसा प्राणी तो पीते ही मर सकता है। इस अद्भुत कार्य को देख कर सभी उपस्थित वैज्ञानिकों ने महदाश्चर्य प्रकट किया और योग की चमत्कार युक्त शक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। इस के सम्बन्ध में विश्व प्रसिद्ध श्री रमण के यह शब्द थे—'यह शख्स संसार के वैज्ञानिकों को चैलेंज दे रहा है"। आश्चर्य करने की बात नहीं है। कई योग-विज्ञान के आचार्यों ने अपने इसी योग विज्ञान के द्वारा दूरस्थ देश में सांप के काटे हुए की सूचना मात्र से ही इस के विष उतार देने का श्रेय भी प्राप्त किया है। ऐसी स्थिति में योगसाधन या अपनी बढ़ी हुई इच्छा शक्ति द्वारा अनेक प्रकार के रोगों की सुगमता से चिकित्सा भी की जाती है। यह कोई बड़े महत्व की बात नहीं। इत्यादि अनेकों दृष्टान्तों के आश्चर्योत्पादक होते हुए भी योगशास्त्र बतलाता है "ये तो सब योग के बाह्य स्थूल रूप हैं; इस की विशेषताएँ तो वे हैं जिन से अन्तस्तत्व का साक्षात्—प्रकट रूप में—प्रतिभास हो जाता है"। हम लोग तो इस विषय पर ठीक २ विवेचन भी नहीं कर सकते, इस का योगियों और साधकों को ही अनुभव हो सकता है, क्योंकि यह तर्क का विषय नहीं, इस का तो ज्ञान अनुभव और साधन गम्य है।

योग साधन से होने वाली शान्ति अलौकिक है—वर्णनातीत

है। विद्वानों का कथन है कि "योगसाधन वर्तमान संसार के अशान्त वातावरण की निर्दोष चिकित्सा है"। इतिहास के पन्ने उलटने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में जो शान्ति का साम्राज्य रहा उस का योगसाधन ही प्रधान कारण था। क्योंकि यह निश्चित है कि यदि मनुष्य मोहजन्य वासनाओं से विरक्ति प्राप्त करता रहे—अशान्ति उत्पन्न करने वाले संसार के अनावश्यक कार्यों में हाथ न बटा कर अपना कर्त्तव्य सावधानी से करता रहे और अवशिष्ट समय को अपने चरित्र के निरीक्षण या योगाभ्यास द्वारा अपने आत्मिक उत्थान में लगा देवे, तो यह निश्चित है कि वे अवश्य ही अनुपम सुख और शांति के पात्र होंगे। क्योंकि मोह के कारण ही चिन्ता की उत्पत्ति होती है—अनावश्यक संकल्प ही दुःखों के कारण हैं। जब चिन्ता की उत्पत्ति हो जाती है तब शान्ति का क्रम छिन्न भिन्न हो जाता है और इसी का नाम दुःख है। योगशास्त्रियों का कहना है कि यदि मन की चंचलता पर पूर्ण आधिपत्य रक्खा जाय, चित्त की वृत्ति को इधर उधर प्रवृत्त होने से रोक कर एक विषय पर लगा दिया जाय, तो यह सम्भव नहीं कि अशान्ति की सृष्टि हो। इस से अच्छी तरह समझ में आजाता है कि मनोयोग को स्थिर न रखने के कारण ही हमारा जीवन अशान्त होजाता है। दर्शनशास्त्रों में सुख तथा शान्ति के उपायों का वर्णन करते हुए ऐसे ही साधनों का उल्लेख किया गया है जिन से चित्त एकाग्र होता है, संकल्प-विकल्पों की उत्पत्ति रुक कर मन किसी एक विषय की चिन्तना में प्रवृत्त होजाता है। उपरोक्त कथन से इस में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सांसारिक कार्यों में भी सफलता की प्राप्ति के लिये चित्त की वृत्तियों का निरोध कर मानसिक एकाग्रता प्राप्त करना आवश्यक है। इस के लिये वशीकरण, दृष्टिबन्ध, सम्मोहन आदि

इच्छाशक्ति या मैस्मरेज्म के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों से बढ़कर और असन्दिग्ध प्रमाण क्या होंगे ?

योगसाधन को अतिकठिन मानने की आवश्यकता नहीं; अभ्यास करते रहने वाले साधकों को यह दुःसाध्य नहीं प्रतीत होता। ज्यों ज्यों इस का अभ्यास बढ़ाया जाता है, त्यों त्यों शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त होता जाता है। इस के अभ्यास के लिए ईश्वर को ध्येय बनाया जाय यह भी आवश्यक नहीं है। अधिकारी के भेद से इस के प्रकार और तरीके अनेक हो सकते हैं। साधारण से साधारण मनुष्य भी अपनी योग्यतानुसार इस से बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। वैज्ञानिकों का मत है कि "प्रत्येक सभ्य और उन्नत व्यक्ति में स्वभावतः कुछ न कुछ योगसाधना प्रायः काम करती रहती है।" इस के थोड़े से अधिक अभ्यास और वैराग्ययुक्त होजाने पर हम सामाजिक पापों से सरलता से छुटकारा पा सकते हैं—समाजसुधार और देशोन्नति में पूर्ण सहायता ले सकते हैं। यदि हमारा अभ्यास सुदृढ़ होजाय तो पूर्णोन्नत और जीवन्मुक्त भी हो सकते हैं। परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब योगमार्ग में अभ्यास को क्रमशः उन्नत बनाते रहें। जब हम इस मार्ग का अवलम्बन कर लेंगे तब सात्विक विषयों में प्रवृत्त रहने के कारण मन स्वयं शुद्ध और निवृत्तिमार्ग परायण हो जावेगा और उस समय पूर्व की क्लिष्टवृत्ति का अपने आप निरोध हो जायेगा और जहां साधारण मनुष्य की बुद्धि थक जाती है, कल्पनाशक्ति व्यर्थ हो जाती है, उन विषयों तक योग हमें पहुंचा देगा।

जैन शास्त्रों में योग की बहुत प्रशंसा की गई है। योगदर्शन के समान जैन सिद्धान्त में भी इस विषय का विवेचन किया गया

है। कई शास्त्रों के विस्तृत प्रकरण इसी विषय पर लिखे गये हैं। जैन शास्त्रों से भी यही प्रकट होता है कि हम उत्कृष्ट ध्यान द्वारा वह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिस में संसार के गम्भीर और सूक्ष्मतम विषयों का विशद प्रतिभास हो सकता है; इन्द्रिय और मन के अगोचर अति सूक्ष्म तत्वों का निर्मल ज्ञान सम्भव है। ज्यों ज्यों ध्यान अधिक स्थिर होता जाता है त्यों त्यों आत्मशक्ति समृद्ध होती जाती है और ज्ञान अधिक निर्मल होता जाता है। ऐसे आत्मिक ज्ञान की प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम अवस्था को, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान उत्कृष्ट ध्यान के फल की चरम सीमा है। इस की प्राप्ति होजाने पर सम्पूर्ण पदार्थ हस्तामलकवत् प्रतिभासित होने लगते हैं।

जैन सिद्धान्त में चार प्रकार के ध्यान बताये गये हैं—आर्त-ध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन में आदि के दो ध्यानों से आत्मोत्थान नहीं होता; ये संसार बन्ध के कारण हैं। अन्त के दो ध्यानों से आत्मा के परिणाम विशुद्ध होते हैं। शुक्लध्यान अन्तिम ध्यान है। इस की पूर्णता हो जाने के साथ ही साथ आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य प्रकट होजाते हैं और "नास्ति योगात् परं बलम्" को चरितार्थ करते हैं। इस की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक मनुष्य अपने को योगद्वारा इस योग्य न बनाले। मन, वचन और काय के प्रदेशों की क्रिया का नाम योग है। इस क्रिया के रुक जाने पर ही ध्यान होता है।

इस ही ध्यान के चार भेद निम्न प्रकार से भी जैन शास्त्रों में बताये गये हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। यह विवेचन बड़ा ही वैज्ञानिक है। साधक के लिये

क्रमशः बढ़ने पर किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, इस का पूरा ध्यान रक्खा गया है । योगदर्शन में जो स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, विन्दुध्यान और ब्रह्मध्यान ये ध्यान के चार प्रकार के भेद किये गये हैं, उसी प्रकार जैनग्रन्थों में पिण्डस्थध्यान को पार्थिवी, आग्नेयी, वायु, जल और तत्त्वरूपवती, इन पांच धारणाओं का वर्णन मिलता है। यहीं तक नहीं अपितु प्राचीन योगशास्त्र की परिभाषायें भी जैन परिभाषाओं से अक्षरशः मिलती हैं। इस का विशद विवेचन हम किसी अन्य ग्रन्थ में करेंगे। यहां तो हमारा अभिप्राय इतना ही है कि योगधर्म ही सब से प्राचीन है और वह जैन धर्म का एक प्राचीन नाम है । इसी धर्म को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा श्री ऋषभदेव जी ने प्रचलित किया था।

भगवान् ऋषभदेव का जीवन वृतान्त

प्राचीन समय में अयोध्यापुरी, भारतवर्ष में स्वर्गपुरी के समान अत्यन्त शोभाप्रद और रमणीय थी। उस सुन्दराकार नगरी का अवलोकन कर स्वयं सुरराज को इन्द्रपुरी की शोभा भी फीकी सी ज्ञात होती थी। देवों द्वारा की गई रत्न वर्षा के कारण वह साक्षात् रत्न गर्भा सी प्रतीत होती थी। शत्रुओं के द्वारा वह अवेध्य थी। इसी लिए उस का नाम 'अयोध्यापुरी' सार्थक होता था।

उस नगरी की रचना भगवान् ऋषभदेव के जन्म से पूर्व इन्द्र के कोषाध्यक्ष कुवेर ने बड़े २ निपुण देव कारीगरों के द्वारा कराई थी। अस्तु वह अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थी।

मानवों को सर्व प्रथम कुल धर्म बतलाने वाले कुल कर

नाम से प्रसिद्ध, पुरुषों में शिरोमणि महामना नाभिराय उस नगरी के श्रेष्ठ शाषक थे। वह समस्त राजनीति और कलाओं के पारगामी थे। प्रजा पालन की कुशल रीतिओं से वह पूर्ण परिचित थे। वह धीमान् लौकिक विद्याओं के जानने में तो अत्यन्त कुशल थे ही; किन्तु धार्मिक क्रियाओं के भी अनुभवी थे और यथा साध्य उनका पालन करते थे।

रूप और सुन्दरता पूर्ण शची (इन्द्राणी) जिस प्रकार इन्द्र का मनोहरण करती है उसी प्रकार महामना नाभिराय का महिलाओं में श्रेष्ठ देवी मरुदेवी मनोज्ञलीला विलास द्वारा मन मोहन करती थी। वह विदुषी अपने लज्जा विनय और पति-भक्ति आदि सद्गुणों के कारण महाराज के हृदय को अत्यन्त प्रिय थी। रूप और सुन्दरता में तो उस के समान उस समय भारतवर्ष में कोई अन्य रमणी ही नहीं थी। वह देवी उत्तम विद्याएँ और कलाओं में निपुण और गार्हस्थिक कार्यों में पूर्ण विज्ञ थी।

देवी मरुदेवा और महाराजा नाभिराय का जीवन एक आदर्श जीवन था। उस समय पति और पत्नी के किसी प्रकार के अधिकारों का झगड़ा न था। कोई कार्य परस्पर में रुष्ट होने या एक दूसरे पर कोधित होने का नहीं था।

वह दंपति अपने २ कर्तव्यों में सदैव निरत रहा करते थे। उन के हृदय सरल और उदार थे। उन के मन में क्रोध ईर्षा लेशमात्र को नहीं थी। कपट अथवा मायाचार तो उन के समीप ही नहीं आ सका था। उन की प्रीति निष्कपट और अक्षय थी; उन में परस्पर स्वाभाविक स्नेह था।

महाराजा राज्य के कार्यों में यथोचित ध्यान दिया करते

थे। वह केवल विलाप वासना और इन्द्रिय भोगों में ही मग्न नहीं रहते थे, किन्तु पूर्व पुण्य से प्राप्त हुए ऐश्वर्य को संतोष और न्याय के साथ भोगते हुए भी अन्य कार्यों में उचित समय लगाया करते थे। प्रजा के कष्टों को वह बड़े ध्यान से श्रवण करते थे और उन के प्रतिकार का योग्य उपाय भी बतलाते थे। नागरिकों के हृदयों में उन के अद्भुत प्रेम और स्नेह ने अपूर्व सत्ता स्थापित कर ली थी। वह उन्हें पिता के सदृश अपना हितैषी और पूज्य समझते थे और महाराजा भी समस्त नगर निवासियों के ऊपर पुत्रवत् निष्कपट प्रेम करते थे। स्वार्थ और लोभ का उन के हृदय में किंचित् निवास ही नहीं था।

महामना नाभिराय के समय में इस भरत क्षेत्र में बड़ा विचित्र परिवर्तन हुआ। इस के प्रथम यहाँ पर एक जाति के वृक्ष हुआ करते थे जिन्हें उस समय के बुद्धिमान मनुष्य कल्पवृक्ष कहा करते थे।

इन वृक्षों के द्वारा मानवों को कल्पना मात्र से विविध भोजन तथा अन्य समस्त आवश्यक वस्तुएँ अनायास प्राप्त हो जाती थीं, किन्तु इस समय उन कल्पवृक्षों का बिल्कुल अभाव हो गया तथा उन की अपेक्षा पृथ्वी में एक प्रकार के अंकुरों सहित छोटे २ वृक्ष दिखलाई देने लगे। समस्त भूमि वृक्ष और धान्य के वन नवीन पल्लवों से अत्यन्त सुशोभित होने लगी। किसी २ वृक्ष में सुन्दर २ फल लटकने लगे और कोई २ वृक्ष मनोहर पुष्पों से भूषित हो कर मानवों के हृदयों को अनुरंजित करने लगे। इन अपूर्व दृश्यों के अवलोकन से उस समय के मनुष्यगण अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए, और

स्नेह भरी दृश्य से वह सब दृष्टि निरीक्षण कर ने लगे।

इधर कल्पवृक्षों के क्रमशः नष्ट हो जाने से भोजन आदि सामग्रियों का अभाव हो गया, अब उन्हें वह भोजन तथा अन्य आवश्यक पदार्थ जो अनायास ही प्राप्त हो जाते थे नहीं मिलने लगे। अतः उन के हृदय में क्षुधा की तीव्र वेदना उत्पन्न होने लगी।

तब उन समस्त मनुष्यों का समूह एकत्रित हो कर अपने प्रधान, महाराजा नाभिराय के समीप उपस्थित हुआ और कहने लगा—

"महाराज! प्रथम हम लोगों को कल्पवृक्षों के द्वारा इच्छित पदार्थ प्राप्त हो जाते थे, और भोजन की समस्त वस्तुएं हमें मिल जाती थीं, जिससे हम अपनी क्षुधा निवृत्ति करते थे किन्तु हम अब देखते हैं, कि वह कल्पवृक्ष हमें कुछ भी नहीं प्रदान करते हैं।

हम उन के सम्मुख बहुत कुछ प्रार्थना करने पर भी कुछ नहीं पाते इस प्रकार क्षुधा वेदना हमारे हृदय में पूर्ण रूप से जागृत होकर हमें विकल कर रही है, हमें ज्ञात नहीं होता कि इस के लिए हम क्या उपाय करें। आप अत्यंत विज्ञ और श्रेष्ठ विद्याओं में कुशल हमारे प्रभु हैं। अस्तु आप हमारी इस वेदना के नष्ट होने का उचित उपाय बतलाइए"।

समस्त नागरिकों के दुःख से भरे विनययुक्त उपरोक्त वचन श्रवण कर महामना नाभिराय उन लोगों को धैर्य प्रदान करते हुए

मधुर स्वर से कहने लगे—

"हे नागरिको ! अब काल दोष के प्रभाव से पूर्व कल्पवृक्षों का अभाव होगया है। अब उन में इच्छित पदार्थों के प्रदान करने की शक्ति नष्ट होगई है। अब तुम्हें जो यह नवीन वृक्ष दीख रहे हैं उन में जो मिष्ट और स्वादिष्ट फल लग रहे हैं इन के द्वारा ही तुम्हें अपनी क्षुधा निवृत्ति करनी पड़ेगी। अब इन फलों को यत्न से तोड़ कर इन के भक्षण से अपनी क्षुधा तृप्ति करें"। यह कहते हुए उन्हों ने उन वृक्षों से फल तोड़ने और उन्हें उपयोग में लाने का उपाय बतलाया तथा जो वृक्ष हानिकर थे, जिन के भक्षण से मृत्यु आदि का भय था अथवा जिन के द्वारा रोगादि होने की आशंका थी, उन्हें अलग करने का उपदेश दिया। इस के साथ २ उन्हों ने उन समस्त मानवों को पात्र निर्माण क्रिया भी बतलाई और उन की रक्षा करने का यत्न समझाया।

समस्त नागरिकों ने महाराज के आदेशानुसार कार्य करने का सकल्प करते हुए प्रसन्न मन से अपने गृहों में प्रवेश किया और पूर्व उपदेशानुसार फलों के भक्षण द्वारा अपनी क्षुधा तृप्ति करते हुए सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार महाराजा नाभिराय, समस्त नागरिकों की हित चिंतना का उपदेश देते हुए, उन के दुःखों को यथासाध्य दूर करने लगे। वह उन्हें समयानुसार योग्य शिक्षा और व्यवस्था बतलाते हुए शांति पूर्वक कालक्षेपण करने लगे।

अर्द्ध रात्रि का समय था। राजमहल में प्रकाश पूर्ण रत्न दीप प्रज्वलित हो रहे थे। रात्रि अधिक व्यतीत हो जाने के कारण उन दीपकों की प्रभा कुछ २ क्षीण सी हो चली थी। समस्त चर अचर

निद्रा देवी की सुखमय गोद में मग्न थे। अशान्त संसार के सभी झगड़ों और कोलाहलों से रहित मानव समस्त कृत्यों से निश्चिन्त हो स्वप्न राज्य में विचरण कर रहे थे। महारानी मरुदेवी समस्त विषयों से हृदय को हटा कर सरल भाव से सुख शैया आसीन गम्भीर निद्रा देवी की गोद में विराजमान थी। रात्रि के किंचित अवशेष समय में अनायास ही उस ने मन को विस्मय उत्पन्न करने वाले मनोहर १६ स्वप्नों को देखा और अन्त में मुंह में वृषभ को प्रवेश करता हुआ निरीक्षण किया। उन स्वप्नों के अवलोकन से कौतूहल मग्न वह देवी शीघ्र ही जागृतावस्था को प्राप्त हुई।

प्रातः काल हुआ, मंगल नाद से राज्य भवन गूंज उठा, सूर्य-देव के प्रचंड प्रताप से रजनी राक्षसी अपने अंधकार पति के साथ शीघ्र ही विलीन होगई, पक्षागण अपने मीठे और सरल कलरव से संसार को सूर्यदेव के अखंड प्रताप का संदेश सुनाने लगे। सूर्य मित्र के दर्शन से सुखी होने वाले कमलों का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। मलय पवन मानवों को अपने कार्यों में पुनः मग्न होने के लिए सचेष्ट करने लगा।

मंगल नाद श्रवण कर महारानी मरुदेवी ने अलस भाव से शैय्या परित्याग की और प्रभात कृत्यों से निवृत्त होकर रात्रि के समय में अवलोकन किए हुए चमत्कार पूर्ण स्वप्नों के विषय में जानने के लिए वह अत्यन्त मोद सहित महाराजा नाभिराय के समीप उपस्थित हुई।

महाराजा नाभिराय रत्न जटित मनोरम सिंहासन पर विराज-मान थे। उन्हों ने रानी को अपने सिंहासन पर स्थान देते हुए स्नेह पूर्ण दृष्टि से विलोकन किया।

शान्ति को भंग करती हुई महारानी मरुदेवी ने महाराजा के

हृदय सरोवर में आनन्द की तरंगें वर्द्धन करने वाले मृदु और मनोहर शब्दों में रात्रि के देखे हुए स्वप्नों का समाचार कह सुनाया।

महाराजा ने उन स्वप्नों को श्रवण कर कुछ समय को मौन रह कर विचार करते हुए अन्त में अत्यन्त प्रसन्न मन से रानी को उत्तर दिया—

"हे शुभगे! तू महान पुण्यवती और संसार की नारियों में श्रेष्ठ है। तेरे गर्भ में संसार श्रेष्ठ त्रैलोक्य वंदनीय महात्मा ने जन्म धारण किया है। उसी के मंगल सूचक यह शुभ स्वप्न आज रात्रि के समय तूने देखे हैं। हे देवी! इन स्वप्नों का फल यह सूचित करता है, कि तेरे विश्वपूज्य, संसार में सत् धर्म का संदेश सुनाने वाला महान पुरुष पुत्र उत्पन्न होगा"।

कमलिनी जिस प्रकार सूर्य-किरणों के अवलोकन से प्रफुल्लित होकर खिल उठती है, उसी प्रकार यह शुभ वृत्तान्त श्रवण कर महारानी का हृदय प्रसन्न हो उठा। उस के हृदय में आनन्द की तरंगें उमड़ने लगीं।

भगवान ऋषभदेव के पूर्व पुण्य के प्रताप से अनेक देविएं आकर महारानी की सेवा करने लगीं और विविध विनोदों के द्वारा हृदय प्रसन्न करने लगीं। उन के द्वारा महारानी की सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती थी। वह जिस वस्तु की इच्छा करती थीं जिस कार्य के करने का आदेश करती थीं, वह उसी समय पूर्ण हो जाता था। महारानी उन की समयोचित सेवा से हर्ष पूर्ण रहती थीं। उन का समय विद्या विनोद में, साहित्य चर्चा और सत्कृत्यों में व्यतीत होने लगा।

सुख में मग्न रहने वाले मनुष्यों के लिए उन का कितना समय

व्यतीत होगया, यह ज्ञात नहीं होता। दुःख मग्न मानवों के लिये जो एक २ पल वर्षों सा व्यतीत होता है, उसी समय का बहुत भाग भी सुख सम्पन्न मनुष्यों के लिए एक क्षण सा मालूम पड़ता है। वास्तव में समय भी पाप और पुण्य में अपनी प्रकृति बदलता रहता है। सुख में समस्त सामग्रिएं सुख देने वाली बन जाती हैं। देवियों के द्वारा लाई गई अनंत अलभ्य सुख सामग्रियों में मग्न महारानी के नव मास व्यतीत होते हुये उन्हें किंचित् भी नहीं जाने गये।

नव मास पूर्ण हुये उचित समय पर शुभ नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ। अयोध्या नगरी में आनंद का स्रोत उमड़ उठा। मानवों के हृदय, पूर्ण हर्ष और उत्साह से परिपूर्ण होगए। त्रैलोक्य में आनन्द की वर्षा होने लगी। नागरिकों के ग्रहों में अनेक मंगल सूचक शुभ शकुन होने लगे। भगवान् के दिव्य प्रभाव से जन्म होते ही इन्द्रासन कंपित हुआ और समस्त देवगण क्षोभ को प्राप्त हुये। कुछ क्षण ही पश्चात् इन्द्र ने अपने दिव्य ज्ञान से भगवान् ऋषभदेव का जन्म होना ज्ञात किया और प्रसन्न हृदय होकर यह शुभ संवाद देवतागणों को सुनाया। देव लोक हर्ष से तन्मय हो उठा अपनी पूर्ण विभूति के साथ २ मंगल नाद करते हुये ऐरावत हाथी को सजा कर इन्द्र ने भगवान का जन्मोत्सव मनाने के लिये स्वर्गलोक से अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया।

नाभिराय का आंगन देवताओं के समूह से परिपूर्ण हो गया, देवांगनाएं मिष्ट और उच्च स्वर से गीत गाती हुई तांडव नृत्य के द्वारा मानवों के नेत्रों को तृप्त करने लगीं। बाजों की मोहक ध्वनि से नभ मंडल व्याप्त होगया। उसी समय इन्द्राणी ने बड़े उत्साह

और हर्ष के साथ २ भगवान को अपनी गोद में उठाकर एरावत हाथी पर बिठाया। बालक ऋषभदेव के सरल प्रशान्त और दिव्य तेज मय मुख मंडल का पुनः पुनः निरीक्षण करता हुआ इन्द्र रूपामृत पान से तृप्त नहीं होता हुआ अनिमिष दृष्टि से भगवान की ओर देखने लगा। हर्ष से उस का हृदय गद् गद् हो उठा। भगवान् को पांडुक वन स्थित पांडुक शिला पर लेजा कर अभिषेक पूर्वक इन्द्र ने बड़े उत्साह और हर्ष से जन्म कल्याणक मनाया। देवताओं के मंगल नाद से दिशाएं ध्वनित हो गई, उन के हृदय आनन्द से विह्वल हो गए।

जन्माभिषेक के पश्चात् इन्द्र ने भगवान को लाकर माता की गोद में समर्पित किया। स्तुति तथा वंदनादि कृत्य कर के इन्द्र और समस्त देवगणों ने अपने २ स्थान को प्रस्थान किया।

देवकुमारों के साथ २ क्रीड़ा करते हुये बालक ऋषभ माता पिता के हृदयों को मुदित करने लगे। देव कन्याएं उन्हें रत्नजड़ित पालने में झुलाती हुई सरल और हर्ष पूर्ण मुख मंडल का दर्शन करती हुई अपने नेत्रों को सफल समझने लगीं। देवताओं द्वारा स्वर्ग लोक से लाये गये वस्त्राभूषणों से अलंकृत बालक ऋषभ अनायास ही मानवों के हृदय कमल को प्रफुल्लित करने लगे।

वह कभी बालूरेत पर गिर कर, कभी घुटनों के बल चल कर, कभी चन्द्रबिंब के लिए मचल कर जननी के मन में हर्ष का संचार करते हुए क्रमशः आयु-वृद्धिगत हुए।

आयु वृद्धि के साथ २ उन के हृदय में समस्त विद्याएं भी आकर निवास करने लगीं।

भगवान् ऋषभ की बुद्धि स्वाभाविक प्रतिभा से परिपूर्ण थी, उन में चमत्कृत ज्ञानशक्ति और अद्भुत श्रुतविज्ञता थी। उन्हें

शिक्षा देने के लिए संसार के किसी महान शिक्षक की आवश्यकता नहीं थी, उन्हों ने बिना पढ़े ही संपूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त किया था।

जो विद्याएं, कलाएं अन्य साधारण पुरुषों को अनवरत परिश्रम और कठोर अभ्यास से प्राप्त होती हैं, जिन विद्याओं के प्राप्त करने के लिए मानव भिन्न भिन्न देशों में अनेक स्थानों में अनेक गुरुजनों के समीप जाकर अनेक उद्योग और सुश्रूषाएं करते हैं; वही विद्याएं भगवान ऋषभ को स्वभावतः बिना शिक्षक और परिश्रम के प्राप्त हो गई।

वह गणित शास्त्र, छन्द, अलंकार, व्याकरण, चित्रकला और लेखन क्रिया में सिद्धहस्त थे। वह मनोरंजनार्थ कलित स्वरों में गाते हुए विविधि वाद्यों के बजाने में अत्यन्त कुशलता प्रदर्शित करते थे।

कभी २ जल में क्रीड़ा करते थे और कभी २ उत्तम खेलों द्वारा विनोद किया करते थे। अनेक विद्याओं के पारगामी होने पर भी, समस्त श्रुतविज्ञ होने पर भी भगवान् ऋषभदेव अभिमान शून्य और सरलता पूर्ण थे। जहाँ संसार में अल्प विद्याएं प्राप्त कर मनुष्य मान के उच्चशिखर पर चढ़ जाते हैं, अपनी विद्याओं के प्रभुत्व के सम्मुख इतर मनुष्यों को कुछ भी नहीं समझते, अपने पूज्य गुरुजनों का अपमान करने में भी नहीं चूकते, वहाँ पर भगवान् ऋषभदेव सौम्य प्रकृति, नम्र और अहंकार से सर्वथा रहित थे।

समस्त विद्याओं से अलंकृत युवक ऋषभ अपनी अद्वितीय सुन्दरता से मानवों और देवों का मनोमुग्ध करने लगे। उन के समस्त शरीर में यौवन ने गुप्त रूप से प्रवेश किया, उन का समस्त सुडौल और वज्र समान सुदृढ़ शरीर यौवन की प्रचंड

दीप्ति से चमकने लगा। कामदेव उन के शरीर की दिव्य प्रभा का अवलोकन करता हुआ अपने हृदय में ईर्षा भाव धारण करने लगा। उन का शरीर जरा आदि दोषों से रहित अतिशय सुन्दर था, उन के शरीर से उत्तम सुगंध सर्वदा निकलती थी, पसेव और मलमूत्र से उन का शरीर निर्मुक्त था दुग्ध सदृश श्वेत रुधिर से परिपूर्ण वज्र को सुदृढ़ कीलों से वेष्टित १००८ शुभ लक्षणों से लक्षित उन के शरीर में अतुल्य बल था। प्रिय मधुर और हितकारी शब्दों को कहते हुये वह मनुष्यों को अत्यन्त प्रिय मालूम पड़ते थे।

पूर्ण यौवन संपन्न होने पर भी भगवान ऋषभदेव के हृदय में कुत्सित काम वासना ने किंचित् भी प्रवेश नहीं कर पाया था। वह काम विकारों से विषयेच्छाओं से उसी प्रकार निर्लिप्त थे जिस प्रकार कमल दल जल से विलग रहता है। जहां वर्तमान का युवक समाज यौवन के प्रथम प्रवेश में ही अपने को कुवासनाओ का दास बना लेता है, व्यभिचार की कक्षा में प्रवेश करने लगता है, युवती कामनियों के अवलोकन और उस के साथ विनोदयुक्त वार्तालाप करने के लिये उत्सुक रहता है और कभी २ उत्तेजना के वशवर्ती होकर दुरित पाप के गड्ढे में विचार शून्य होकर गिर पड़ता है, उसी अवस्था में उसी यौवन की परिपूर्णता में युवक ऋषभ के हृदय में किंचित् भी विकार वासना उत्पन्न नहीं हुई।

माता पिता का हृदय अपने पुत्र के योग्य विवाह संस्कार कर देने के लिए उत्सुकसा रहता है और जब तक इस कृत्य से छुटकारा नहीं पा जाते तब तक उन का मन चिंतितसा रहता है, वह सदैव यहीं चिंतना करते रहते हैं कि मेरे पुत्र का योग्य विवाह संस्कार हो कर वह सुखपूर्वक कालक्षेपण करे।

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि त्रिजगत पूज्य थे, समस्त गुण संपन्न थे, उन के हृदय में किंचित् भी वासना जागृत नहीं थी, किन्तु महामना नाभिराय ने उन का विवाह संस्कार योग्य कन्याओं के साथ करने का आयोजन किया और इसी लिए उन्होंने भगवान् से इस विषय में परामर्श किया। अखिल संसार को आदर्श चरित्र पथ पर चलने के लिए भविष्य में विवाह कार्य का प्रारंभ होना अत्यन्त आवश्यक समझते हुए उन्होंने ॐ शब्द कहते हुए अपनी स्वीकारता प्रकट की

विदेह की दक्षिण श्रेणी में श्रेष्ठ कुलवान् कच्छ और सुकच्छ कुलपति निवास करते थे। उन के अपने अवर्णनीय रूप राशि से भूषित देवकन्याओं को अपनी सौन्दर्य राशि से लज्जित करने वाली यशस्वती और सुनंदा नाम्नी दो कुमारिएं थीं। अपनी गुण गंभीरता से, अकृत्रिम शोभा से, दिव्य लावण्य से उन्हों ने उस समय की समस्त कुमारियों से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था। यौवन की अनंत दीप्ति से मंडित वह कुमारिएं साक्षात् कल्पलतिकाएं सी प्रतीत होती थीं। महाराजा नाभिराय ने पूर्ण निश्चय के साथ उन दोनों कुमारियों की कुमार ऋषभ के साथ विवाहार्थ कच्छ और महाकच्छ से याचना की। उन्हों ने अपनी पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करते हुए कुमार के लिए अपनी दोनों कन्याओं को समर्पण किया।

शुभ तिथि और नक्षत्र में कुमार का विवाह उत्सव होना प्रारंभ हुआ। शुभ आनन्द मंगल से पृथ्वी परिपूर्ण हो गई। महाराजा नाभिराय ने इस उत्सव पर समस्त महापुरुषों को निमंत्रित किया था। देवता लोग भी इस महोत्सव के समय पर उपस्थित हुये थे। बड़े समारोह के साथ युगल कुमारियों से

कुमार ऋषभ का पाणिग्रहण हुआ। महाराजा नाभिराय ने इस अवसर पर पृथ्वी को रत्नों से परिपूरित कर दिया, याचकों को मनो इच्छित दान देकर उन्हें सन्तोषित किया और सुहृद मित्र गणों को उचित रीति से सत्कार द्वारा प्रसन्न किया। विवाह मंगल समाप्त हुआ; समस्त देव और मानव गणों ने प्रसन्नता पूर्वक अपने २ स्थान को प्रस्थान किया।

सुन्दरी यशस्वती और सुनन्दा महारानिएं भगवान् के हृदय सरोवर को कमलिनी सदृश आनंद वर्द्धन करतीं थीं; अपने अनुपमेय सद्गुणों द्वारा उन्हों ने भगवान् के मन को आकर्षित कर लिया था; वे उन का मनोमुग्ध करने में पूर्ण कुशल थीं। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव गृहस्थावस्था में रहते हुए आयु कर्म का बंधन क्षीण कर रहे थे। एक समय महारानी यशस्वती सुकोमल शैया पर निद्रादेवी की मधुर तरंगों में मग्न थीं। अनायास ही उन्हों ने रात्रि के अंतिम समय में उत्तम फल सूचक मनोहर स्वप्नों का अवलोकन किया। प्रातःकाल उठ कर उन्हों ने कौतुक पूर्ण और मधुर वचनों से भगवान् को स्वप्न का समस्त वृत्तान्त विदित किया। उन्हों ने कहा हे प्रिए! दाम्पत्तिक सुख के फल स्वरूप मानवों का हृदय विमुग्ध करने वाला तेरे महाबाहु पुत्र होगा।

यथा समय नव मास व्यतीत होने पर अपने नाम से भारत वर्ष के पृष्ठ को अंकित करने वाले प्रतापी भरत का जन्म हुआ। इसी प्रकार महारानी सुनन्दा ने अपने प्रचण्ड बाहुबल से प्रतापशालियों के अखंड बल को खंडित करने वाले बाहुबलि कुमार को जन्म दिया। पश्चात् भारतवर्ष में कुमारियों के महत्व को प्रदर्शित करने वाली, महिलाओं की महिमा को वर्द्धित करने

करने वाली महारानी यशस्वती तथा सुनन्दा की कुक्ष से ब्राह्मी और सुन्दरी नाम्नी दो कन्याएं उत्पन्न हुई। वह कुमार तथा कन्याएं अपनी रूपलावण्यता से, सरल हास्य विलास से और मधुर वाक्यों से मानवों के हृदयों को प्रफुल्लित करने लगीं।

सभी कुमार और कुमारियें राज प्रांगण में क्रीड़ा करते हुए अत्यंत मनोरम प्रतीत होते थे।

बालिकाएं, वही बालिकाएं जो अबोध और ज्ञान शून्य हैं, जिन्हें वर्तमान समय के माता पिता भाररूप समझते हैं, जिन की उपयुक्त शिक्षा, ज्ञान वृद्धि और योग्यता वृद्धि की ओर किंचित् भी समुचित लक्ष्य नहीं दिया जाता, जो अबला और निराश्रिता होकर पद पद पर ठुकराई जाती हैं, निष्ठुर हृदय समाज जिन को वृद्धों के साथ बलिदान होते देख कर तनिक भी नहीं हिचकिचाता, जिन का जन्म अशुभ सूचक और निकृष्ट समझा जाता है, जो प्यार और दुलार की वस्तु नहीं समझी जातीं, भगवान ऋषभदेव ने उन्हीं की वय वृद्धि होते देख कर उन्हें भरत तथा बाहुबलि आदि कुमारों से भी पहिले योग्य शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। वे उन्हें भारत वर्ष की अमूल्य महिमा, धर्म रक्षा की साक्षात् मूर्ति, स्नेह की प्रतिमा और प्रेम की श्रेष्ठ वस्तु समझते थे। उन का विश्वास था और वे मानते थे कि यही बालिकाएं भविष्य में पत्निएं और माताओं के रूप में परिवर्तित होती हैं, जिन में पति को देवता और पुत्र को धर्म तीर्थ बनाने की शक्ति है, जो संसार में विश्वविजयी मानवों का साम्राज्य स्थापित कर सकती हैं, जो धर्मप्राण बालकों की सृष्टि उत्पन्न कर सकती हैं और जो गार्हस्थिक जीवन में इस मृत्युलोक में स्वर्ग भवन भी बना सकती हैं।

वर्तमान समय में जिन बालिकाओं को उच्च धार्मिक शिक्षा

देना पाप समझा जाता है, उन्हें वास्तविक धार्मिक रहस्यों से वंचित रक्खा जाता है, जो पराए घर की बेगार समझी जाती हैं; भगवान ऋषभदेव ने उन्हें ही सर्व प्रथम शिक्षा का पात्र समझा, अपने पूर्ण प्रेम की वस्तु समझी और उन्हें उच्च शिक्षा देने का समुचित प्रबंध किया।

उन का मत था कि बालिकाएं, अगर बालपन से सुशिक्षिता बनाई जावें, उन्हें योग्य धार्मिक शिक्षा और कला कौशल तथा पाक शिक्षादि देने का पूर्ण ध्यान रक्खा जावे तो वे बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य सुशिक्षिता और धर्मनिष्ठ बन सकती हैं, वे अपने धर्म और सत्य प्रण पर दृढ़ तथा निश्चल रह सकती हैं, इसी मत पर वे ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बालिकाओं को शिक्षा देने लगे।

प्रथम उन्हों ने अ आ इ ई आदि अक्षर पढ़ाना और पाटी पर लिखना बतलाया पश्चात् एक दो आदि अंको का बोध कराया।

कुमारियों की बुद्धि अत्यंत प्रखर और तीव्र थी, अस्तु उन्हों ने अल्प समय में ही समस्त विद्याएं कंठगत करलीं। भगवान् ने उन्हें व्याकरण, छन्द, काव्य, न्याय और गणित आदि विद्याओं में परिपूर्ण कर दिया।

पश्चात् इन्हों ने भरतादि प्रतापी पुत्रों को राजनीति, शस्त्र परि-चालन, धनुर्विद्या, संगीत, चित्रकला और वैद्यकशास्त्र की योग्य शिक्षा दी, समस्त कुमार शास्त्र और शस्त्रकला में अत्यंत विज्ञ हो गए और अपनी विद्याओं द्वारा संसार को चमत्कृत करने लगे। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने समस्त कुमारों को विद्याओं में पूर्ण कुशल बना दिया था। यद्यपि समस्त कुमार अपनी विद्या कुशलता में पारंगत थे और सभी कुमारों को उन्हों ने योग्य बनाया

था, किन्तु कुमार भरत को नीतिशास्त्र और नृत्यकला, वृषभसेन को संगीतशास्त्र, अनन्तविजय को नाट्यशास्त्र, चित्रकला और बाहुबलि कुमार को वैद्यकशास्त्र, धनुर्वेद विद्या, स्त्री-पुरुष, पशु परीक्षा, रत्न परीक्षा, का विशेष रूप से ज्ञान कराया था।

समस्त कुमाररूप नक्षत्रों से शोभित भगवान ऋषभ चन्द्रमा संसार में अद्वितीय कीर्ति किरणों को फैलाते हुए सुख से समय व्यतीत करने लगे।

प्रथम वर्णन कर चुके हैं, कि कल्पवृक्षों के अभाव के पश्चात महामना नाभिराय ने नागरिकों के लिए स्वयं उत्पन्न हुए फलादि को खाद्य के रूप में सेवन करने की विधि बतलाई थी, किन्तु भगवान् ऋषभदेव के जन्म होने के पश्चात् से ही उन वृक्षों में क्रमशः रस और फलों की हीनता होने लगी और उस समय के मनुष्यों को वह पर्याप्त नहीं होने लगे, अतः प्रजा पुनः क्षुधा के कष्ट से व्याकुल होने लगी तथा महामना नाभिराय के समक्ष आकर अपनी क्षुधा निवृत्ति का उपाय पूछने लगी।

महाराजा नाभिराय ने समस्त श्रुतविज्ञ भगवान् ऋषभदेव के समीप जाने का उन को आदेश देते हुए कहा "हे नागरिको! आप किसी प्रकार से दुखित न हों, कुमार ऋषभदेव समस्त विद्याओं और लौकिक क्रियाओं के अनुभवी हैं, अस्तु वह तुम्हारी क्षुधा निवृत्ति का कोई उचित उपाय बतलायेंगे और तुम्हारे कष्टों को हरण करेंगे"।

महाराजा नाभिराय के निर्देश से समस्त नागरिक भगवान् के समक्ष उपस्थित हुए और विनीत होकर कहने लगे "हे भगवन्! आप समस्त विद्या और कलाओं में कुशल हमारे नायक हैं, हम अल्पज्ञ और आप के आश्रितों की आपत्तिएं नष्ट करना महत्

पुरुषों का श्रेष्ठ कर्तव्य है। अस्तु हम आप की सेवा में विनीत जो प्रार्थना करने आए हैं, हे प्रभो! आप उसे ध्यान देकर श्रवण कीजिए"।

"प्रभो! इस के पूर्व हम मनोइच्छित स्वादिष्ट फलों के द्वारा अपनी क्षुधा निवृत्ति करते थे, किन्तु वृक्षों में अब फल कम होने लगे और वह हमें पर्याप्त नहीं होते; उन से हमारी क्षुधा-वेदना नष्ट न होकर उग्ररूप से हमें सताने लगी है। हे नाथ! हम इस क्षुधा के कष्ट सहन के लिए अब सर्वथा असमथ हैं, अस्तु आप हमें ऐसा उपाय बतलाइए जिस से हमारा यह कष्ट नष्ट हो"।

नागरिकों की यह विनीत प्रार्थना श्रवण कर भगवान् ऋषभ हृदय से उन के कर्णों को तृप्त करते हुए मधुर वचनों से संबोधन करते हुए कहने लगे। "हे नागरिको! तुम किसी प्रकार की चिंता मत करो, हम तुम्हारे समस्त दुःखों के नष्ट करने का उपाय बतलाते हैं। देखो! अब भोगभूमि का सर्वथा अभाव हुआ, अब से यह भरतक्षेत्र कर्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध होगा और प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षुधा निवृत्ति के लिए अपने स्त्री पुत्रादि और कुटुम्ब पालन के लिए योग्यता और वर्णानुसार कार्य करना पड़ेगा। भविष्य में मनुष्य अपनी कार्य कुशलता के द्वारा ही श्रेष्ठ बन सकेगा एवं उसी कार्य संचालन क्रिया द्वारा वह भोज्य वस्तुएं प्राप्त कर सकेगा।

अब से प्रत्येक मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए उचित कार्य करना अनिवार्य होगा"।

उपरोक्त वचन श्रवण कर समस्त नागरिकों ने पूछा "भगवन्! हम लोग यह नहीं जानते कि हमें क्या कार्य करना होगा और वह किस प्रकार होगा, हम समस्त कार्यों के ज्ञान से शून्य हैं, अस्तु कृपया आप यह भी बतलाइए कि हमें क्या कार्य करना होगा और उसका साधन किस प्रकार होगा"।

नागरिकों के उपरोक्त वचन श्रवण कर भगवान् पुनः बोले—

"हे नागरिको! तुम्हें क्या करना होगा, यह भी मैं इसी समय बतलाता हूँ और भविष्य में जिस से किसी प्रकार की असुविधा न हो उस के लिए व्यवस्था और क्रमानुसार क्रियाएं समझाता हूं, तुम लोग उसे ध्यान से श्रवण करो।

देखो सर्व प्रथम तुम लोगों को उचित व्यवस्था करनेवाला, तुम्हारे दुःखों और आपत्तियों को श्रवण कर उन्हें नष्ट करने वाला तथा उचित उपाय बतलाने वाला और तुम्हें उचित रीति से चलाने वाला तुम्हारे ऊपर एक शासक होगा जो कि राजा के नाम से प्रसिद्ध होगा। तुम्हें उस की समस्त आज्ञाओं का पालन करना पड़ेगा और उन की आज्ञापालक तुम सब लोग प्रजा के नाम से उच्चारित किए जावोगे। तुम सब लोगों को योग्य रीति से चलाने के लिए कुछ नियम बनाये जावेंगे और वह नियम राजनीति के नाम से कहे जावेंगे। उन नियमों अथवा राजनीति के अनुसार राजा तुम्हारी रक्षा करेगा और तुम्हें उन नियमों का पालन करना होगा।

तुम लोगों को अपनी आजीविका के लिये असि (शस्त्रधारण), मसि (लेखन क्रिया), कृषि (धान्य उपार्जन क्रिया), वाणिज्य (आवश्यकीय द्रव्यों का क्रय विक्रय), विद्या (नृत्य गानादि कलाएं) और शिल्प (तुम्हारे रहने के लिये स्थान और वस्त्रादि निर्माण क्रिया) आदि कार्यों को करना होगा इन कृत्यों के करने वाले समस्त व्यक्ति तीन श्रेणियों में विभाजित होंगे। शस्त्र अर्थात् असिकार्य द्वारा आजीविका करने वाले "क्षत्रिय" के नाम से प्रसिद्ध होंगे; स्याही से शुद्ध अक्षर और ग्रन्थादि लेखन मसि कर्म द्वारा, या कृषि अर्थात् धान्य उपार्जन क्रिया द्वारा अथवा वाणिज्य या व्यापार द्वारा तथा पशु पालन द्वारा

आजीविका करने वाले वणिक अथवा "वैश्य" के नाम से प्रसिद्ध होंगे और नृत्य गानादि विद्या या कला सिखाने द्वारा अथवा शिल्प अर्थात् मकान वस्त्रादि निर्माण द्वारा तथा क्षत्रिय और वणिकों की किसी प्रकार सेवा सुश्रूषा कर आजीविका लचाने वाले "शूद्र" के नाम से प्रसिद्ध होंगे।

उपरोक्त प्रकार प्रत्येक श्रेणी में रहने वाले व्यक्तियों को अपने निर्धारित कार्य द्वारा आजीविका उपार्जन करना पड़ेगा और इस पृथ्वी में जो यह अंकुर उत्पन्न हुए हैं वह वृद्धि को पाकर उन में से कुछ स्वादिष्ट अनाज प्रदान करेंगे, कुछ वस्त्रादि निर्माण के साधक होंगे और कुछ ऐसे होंगे जिन्हें कोल्हू नामक यंत्र में पेलने से स्वादिष्ठ रस निकलेगा जिस के पान से मनुष्य क्षुधा से निवृत्त होंगे। नागरिको! अब तुम समझ गए होंगे कि तुम्हें क्या करना होगा और किस प्रकार अपनी आजीविका चलाना होगा; इस प्रकार कहते हुए भगवान् ऋषभदेव ने उन सब नागरिकों की बुद्धि कार्य कुशलता और योग्यतानुसार उन्हें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णों में विभाजित किया। पश्चात् उन्होंने पृथ्वी में उत्पन्न हुए ईख के पेड़ों द्वारा रस निकालने की विधि बतलाई. इस प्रकार समस्त प्रजाजन को उन की आजीविका का उपाय बतलाया। समस्त नागरिकों ने भगवान् के इस उपदेश को श्रवण कर अत्यंत प्रसन्न होकर अपने गृहों को प्रस्थान किया।

भगवान् ऋषभदेव के आदेशानुसार कार्यों को करती हुई समस्त जनता आनंद पूर्वक समय व्यतीत करने लगी। कुछ समय पश्चात् समस्त जनता ने भगवान् ऋषभदेव को अपना सार्वभौमिक सम्राट बनाना निश्चित किया। महामना नाभिराय ने भी इस विषय में अपनी पूर्ण प्रसन्नता प्रकट की; अस्तु नागरिकों

ने मिलकर भगवान् ऋषभ का बड़े समारोह से राज्याभिषेक किया। महामना नाभिराय ने पूर्ण प्रसन्नता से देवों द्वारा लाए गए रत्नवेष्टित राज्य मुकुट को भगवान के मस्तक पर आरोपित किया। आज से भगवान् ऋषभ अयोध्या के भाग्यनिर्माता श्रेष्ठ शासक के पद पर आसीन हुए।

त्रैलोक्येश्वर भगवान् ऋषभदेव दिव्य बहुमूल्य रत्नों की किरणों से देदीप्यमान राज्य सिंहासन पर बिराजमान थे, मुकुट के प्रकाशमान हीरों के विमल आलोक से सभा मंडप देदीप्यमान हो रहा था।

मानवेश्वर और देवतागण उपयुक्त स्थान पर बैठे हुए थे। समुद्र की उत्तुङ्ग तरंगों के समान चंचल नेत्र वाली सुराङ्गनाएं मधुर हास्यविलास से नृत्य कर रही थीं, उन की हृदय हारिणी नाट्यकला का अवलोकन कर समस्त जनसमूह मुग्ध और विमोहित हो रहा था।

क्रमशः यौवन के तीव्र वेग से उन्मत्त अनेक देवाङ्गनाएं अपनी २ अद्भुत नाट्यकला का दिग्दर्शन कराने लगीं। अन्त में नीलांजना नामक सुन्दरी सुरबाला नृत्य करने के लिए उपस्थित हुई। उस ने अपने कोयलविनिंदित ललित स्वर से मनोमुग्ध करने वाले गीतों को गाया और हृदय विमुग्ध करने वाले हावभाव विलासों को दिखलाया, वह दर्शक गणों को कौतूहल में डालने वाली देवबाला कभी आकाश मार्ग में और कभी पृथ्वी पर पवन गति सदृश चंचल गति से नृत्य करने लगी। मानवों के नेत्र उस की मनोरम नाट्यकला पर आकर्षित हो रहे थे। समस्त सभासदों की दृष्टि उस की ही ओर लग रही थी।

किन्तु अरे! यह क्या! एक क्षण में ही वह विलय को प्राप्त हो गई। उस का सुन्दर और दर्शनीय शरीर आकाश तक में

विलुप्त हो गया ! उस की मधुर ध्वनि पवन के साथ २ विलीन हो गई ! उस की आयु समाप्त हो गई ।

किन्तु इन्द्र ने इस भेद को गुप्त रखा, और दर्शकों के मन पर इस का किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया। उस ने शीघ्र ही अपनी माया के बल से उसी समय एक उसी प्रकार की रूप गुण सम्पन्ना देवी को खड़ी कर दिया और पलभर में वह उस के स्थान में पूर्ववत् नृत्य करने लगी। अन्य सभासद इस रहस्य को कुछ भी नहीं समझ सके, किन्तु दिव्य ज्ञान सम्पन्न भगवान ऋषभ ने इस भेद को तत्काल ज्ञात कर लिया और इस दृश्य का उन के हृदय पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। वह विचार करने लगे, "अहो ! मनुष्यों का शरीर कितना नश्वर है, वह पलभर में किस प्रकार नाश को प्राप्त हो जाता है। यह देवबाला, जो अभी अपनी सुन्दर नृत्यकला से लोगों का मन मुग्ध कर रही थी, वही एक क्षण में विलय को प्राप्त होगई। संसार की इस नश्वरता को धिक्कार है।

हा ! माया और मोह के बंधन में पड़ा हुआ मनुष्य इसी नश्वर शरीर के लिए अनेक पाप कृत्य करता है, इस के पोषण और रक्षण करने के लिये किसी प्रकार के भले बुरे का विचार नहीं करता और इस के स्नेह में अन्धा होकर अपने आत्म कल्याण की ओर नहीं देखता। धिक्कार है ! इस मोह को जो इस प्रकार संसारी मानवों को अपना दास बनाकर उन से इच्छित कार्य कराता है।

तब क्या मेरा भी शरीर एक दिन नाश को प्राप्त होगा ? हां अवश्य होगा ! तब क्या मैं भी इसी प्रकार संसारी मानवों सदृश इस मोह जाल में पड़ा रहूँ ? नहीं अब यह नहीं होगा ! अब इस शरीर के स्नेह को इसी समय परित्याग कर आत्मज्ञान के दिव्य उद्यान में विचरण करूंगा।

मैं अपने आत्मा का पूर्ण उत्थान कर आत्मपथ से विचलित हुए इन संसारी मानवों को सद्धर्म का संदेश सुनाऊंगा"।

भगवान् के हृदय में तीव्ररूप से वैराग्य की तरंगें लहराने लगीं। समस्त मोह और स्नेह की लालसाएं चूर २ हो गईं।

नृत्य समाप्त हुआ। देवताओं ने और सभासदगणों ने अपने अपने स्थान को प्रस्थान किया, किन्तु भगवान् ऋषभ के हृदय में आज अन्य भावना ही उदित हो रही थी। उन्हें सारा संसार क्षण भंगुर और नश्वर प्रतीत हो रहा था। वह आत्म विचार में मग्न थे। इसी समय ब्रह्म स्वर्ग निवासी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान् को नमस्कार किया। वह भगवान् को वैराग्य पथ पर आरूढ़ हुए जान कर पूर्ण भक्ति भाव संयुत गद् गद् स्वर से कहने लगे—

"हे भगवन् ! आप का यह समयानुकूल कृत्य सर्वथा प्रशंसनीय है। हमें दृढ़ आशा और विश्वास है कि आप गंभीर संसार से उत्तीर्ण होकर इन भ्रम में भूले हुए संसारी मानवों को सत्पथ पर लगाएंगे। आत्मपथ से उन्मुख हुए प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बताएंगे।

हे नाथ ! आप के अतिरिक्त ऐसा कौन महा पुरुष है, जो इस प्रकार विचार कर सके।

प्रभो ! आप समस्त श्रुतविज्ञ हैं, आप के सम्मुख अधिक प्रलाप करना व्यर्थ है" यह कहते हुए नम्र मुख हुए देवता गणों ने स्वस्थान को प्रस्थान किया।

वैराग्य शिखर पर आरूढ़ हुए भगवान् ऋषभदेव ने युवराज भरत को अयोध्या का राज्य समर्पण किया और अन्य कुमारों की योग्य व्यवस्था करते हुए महामना नाभिराय और देवी मरुदेवी से

आज्ञा लेकर दीक्षार्थ बन के लिए प्रस्थान किया।

इन्द्रों ने भगवान् की पालकी को कंधे पर रखकर जय जय शब्द के दिव्य नाद सहित सिद्धार्थ बन में प्रवेश किया। भगवान् ने वहां पर पालकी से उतर कर अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को जीर्ण गृह सदृश परित्याग कर, सुकोमल करों से केशों का लौंच किया और पूर्ण दिगंबर मुद्रा धारण कर "ॐनमः सिद्धेभ्यः" उच्चारण करते हुए चन्द्रकान्तमणि सदृश स्वच्छ शिला पर आसीन होकर ध्यान मग्न हुए।

भगवान् के साथ २ उन का अनुकरण करते हुए अनेक राजाओं ने नग्नावस्था धारण की थी, किन्तु वे आत्मध्यान के मार्ग से सर्वथा अपरिचित थे, उन के हृदय में आत्मोद्धार की तरंगें उदयित नहीं हुई थीं। उन्हों ने केवल अनन्य भक्ति वश होकर अचल प्रेम से आकर्षित होकर भगवान् का अनुकरण किया था। अतएव वह अधिक समय पर्यन्त कठिन अनाहार व्रत पर स्थिर नहीं रह सके, उन का मन विचलित होने लगा, क्षुधा की तीव्र वेदना उन के हृदय में भयानक दाह उत्पन्न करने लगी, वह अपनी इच्छा को नहीं रोक सके। अस्तु वह भगवान् को ध्यानारूढ़ छोड़कर अपनी २ राजधानी को जाने की इच्छा करने लगे, किन्तु शीघ्र ही उन के हृदय में यह भाव उदित हुआ कि भगवान् ऋषभदेव कोई भारी अनुष्ठान सिद्ध कर रहे हैं। अस्तु वह कुछ दिनों में ही अवश्य ही सफल होगा, तब हमें उन के द्वारा कुछ उत्तम फल की प्राप्ति होगी। अथवा भगवान् ऋषभदेव हमारे स्वामी थे यदि इसी प्रकार हम उन्हें अकेले जंगल में छोड़कर लौट जायंगे और यह समाचार कहीं सम्राट भरत श्रवण कर पायेंगे तो अवश्य कुपित होंगे, अस्तु परस्पर सलाह करते हुए उन्हों ने भगवान् के समीप ही जंगल में रहना निश्चित किया।

वह अपने अनाहार व्रत को तोड़ते हुए जंगल के फल-फूल भक्षण करने लगे और शीत, उष्ण आदि की बाधा को सहन न करते हुये अपने शरीर को वृक्षों के बक्कलों से वेष्टित कर, सत्धर्म पथ से विमुख हुये ज्ञान शून्य विविध प्रकार की क्रियाएं करते हुये और अनेक वेशों को धारण किये हुये उसी विपिन में यत्र तत्र निवास करने लगे।

भगवान ऋषभदेव अपने आत्मज्ञान में पूर्ण मग्न थे. वह दिव्य अध्यात्म रस का पान कर रहे थे। उन का मन निश्चल था। उन का शरीर आत्मिक तेज से उद्दीप्त था, उन के हृदय में किसी प्रकार की वासना नहीं थी, कोई कामना नहीं थी, और न कोई इच्छा थी। अचल सुमेरु गिरि सदृश निश्चल, तरंग रहित, रत्नाकर समान गंभीर और स्फटिक समान निर्मल थे! कठिन क्षुधा की वेदना जिस के वशवर्ती होकर मानव अपने धर्म को तिलांजली दे बैठते हैं, जिस के कारण मनुष्य अपने उचित कर्तव्यों को विस्मृत कर देता है, जिस के वेग से मनुष्य घोर कुकृत्य करने से नहीं चूकता, उसी जगज्जयिनी क्षुधा का भगवान के हृदय पर किंचित भी प्रभाव नहीं पड़ा उन्होंने उसे जीत लिया था।

भगवान् यद्यपि सामर्थ्यवान थे, शक्तिशाली थे। यदि वह आयु पर्यंत भी आहार न लेते तो उन्हें कोई इच्छा नहीं था, किन्तु वह संसार के हितचिंतक थे, वह विचारने लगे–' वर्तमान का मानव समाज मुनि आहार दान से सर्वथा अनभिज्ञ है, वह पात्रों के लिये उन के योग्य दान देना नहीं जानता, भविष्य में अनेक मानव मुनि जीवन को धारण करेंगे, किन्तु सभी मेरे सदृश शक्ति शाली नहीं होंगे जो आयु पर्यन्त निराहार रह कर अपने आत्म ध्यान में निश्चल रह सकें, अस्तु गृहस्थों में इस समय यदि दान-प्रथा प्रचलित नहीं की जायगी, उन्हें दान की व्यवस्था

नहीं बतलाई जायगी तो पश्चात् भारी अनर्थ होने की आशंका है" अस्तु उन्होंने दान देने की प्रथा को प्रचलित करने के लिये आहारार्थ नगर में प्रवेश किया।

मुनिदान से अनभिज्ञ उस समय के मनुष्यों ने भगवान् के समक्ष उन के सत्कारार्थ स्वर्ण थाली में रत्नों के समूह को अर्पित किया, कोई भक्तिवश होकर सुन्दर पात्र में मिष्टान्न और मोदक लेकर सम्मुख खड़ा हुआ, कोई उत्तम २ अश्व और वाहनादि से उन का स्वागत करने लगा और भक्ति पूर्वक उन की यश गाथायें गाने लगा, किन्तु भगवान् उन के समस्त कृत्यों को अपने लिये अंतराय समझ कर पुनः बन को लौट आये और पूर्ववत् ध्यान में मग्न हो गये।

नगर निवासी मानव भगवान् की यह चेष्टा कुछ भी नहीं समझ सके; अस्तु निराश होकर अपने स्थान को लौट आये।

छह मास व्यतीत हो जाने पर भगवान् ने पुनः आहारार्थ हस्तिनापुर नगर को प्रस्थान किया। हस्तिनपुराधीश महाराजा श्रेयांस ने उन्हें अत्यंत पवित्र दृष्टि से अवलोकन किया। अवलोकन करते ही उन्हें पूर्वजन्म में दिए हुए मुनि दान का स्मरण हो आया; अतः उन्होंने भगवान् से विनीत भाव युक्त "आगच्छ, तिष्ठ, तिष्ठ, आहार पान शुद्ध' कहते हुए विधि पूर्वक इक्षु रस का आहार दिया। अंतराय रहित आहार हो जाने से देवों द्वारा मानवों को आश्चर्यान्वित करने वाली पुष्प और रत्नों की वृष्टि हुई, मलय पवन मंद वेग से बहने लगी, जय २ शब्द और दुंदुभि नाद से गगन गुंजित होने लगा। उपरोक्त अभूतपूर्व क्रियाओं के अवलोकन से जनता चकित हो गई। आहार दान के पश्चात भगवान् ने अपनी पवित्र वाणी द्वारा समस्त गृहस्थों को मुनि

आहार दान की व्यवस्था बतलाते हुए उस के दोषों और अंतरायों का वर्णन किया। उन के उचित उपदेश से समस्त गृहस्थ मुनि-दान की विधि से अवगत हो कर अत्यंत प्रमुदित हुए।

भगवान् ने जिस दिन आहार ग्रहण किया था। वह वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन था। अस्तु वह पुनीत दिवस "अक्षय तृतीया" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् आहार लेकर पुनः बन को लौट गए। वहां बहुत समय पर्यन्त कठिन तपश्चरण करते हुए उन्होंने अन्त में शुक्ल ध्यान की तीक्ष्ण खड्ग से, दिव्य आत्मिक दीप्ति को प्रकाशित करते हुए प्रचंड घातिया कर्म शत्रुओं को निहत किया और त्रैलोक्य पदार्थों को हस्तामलक सदृश स्पष्ट प्रदर्शित कराने वाले अलौकिक कैवल्य ज्ञान को प्राप्त किया।

भगवान् को कैवल्य प्राप्त हुआ ज्ञात कर, इन्द्र समग्र देव परिवार सहित कैवल्य महोत्सव मनाने के लिए उपस्थित हुआ और शीघ्र ही कुबेर को मानवों का हृदय विमोहित करने वाले समवशरण निर्माण करने की आज्ञा देकर स्वयं भगवान् के समीप विनीत भाव से स्थित हुआ।

विशाल समवशरण में समस्त पशु मानव और देवादिक भगवान् का दिव्य उपदेश श्रवणार्थ उपस्थित हुए।

भगवान् ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा जीवादि तत्त्वों का उपदेश देते हुए गृहस्थ तथा मुनियों के आचार का विस्तृत वर्णन किया और युग के आदि में सर्व प्रथम मानवों को मुक्ति के मार्ग को प्रदर्शित करते हुए आत्म कल्याण और पूर्ण सुख शांति का मार्ग बताया।

अन्त में उन्होंने शेष कर्मों को भी नष्ट करते हुए कैलाश

पर्वत से सिद्धावस्था को प्राप्त किया। वह अनंत, अक्षय और अविनाशी आत्म सुख को प्राप्त हुए।

जिन भगवान् ने गृहस्थावस्था में रहते हुए कर्मयोग का मार्ग प्रदर्शित किया, मुनि अवस्था में दान की व्यवस्था बतलाई और कैवल्य अवस्था में मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया, वह भगवान् ऋषभदेव हमारे हृदयों में सदाचरण और सत्धर्म की वृद्धि करें।

वृषभ शब्द का अर्थ

वृषो हि भगवान धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत । तथाच
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ॥

उपरोक्त श्लोक महाभारत के हैं जिन को सत्यव्रत सामश्रमी जी ने अपनी पुस्तक निरुक्तालोचन में लिखा है। इन श्लोकों का अर्थ यह है कि "वृष" शब्द का अर्थ धर्म है। कपि, तथा वराह शब्द का अर्थ श्रेष्ठ। हमारा अभिप्राय "वृष" शब्द से है तो वृष शब्द का अर्थ हुआ धर्म और वृषभ शब्द का अर्थ हुआ धर्म से शोभायमान। अर्थात्

वृषेण धर्मेण भाति, इति वृषभः

अर्थात् जिस व्यक्ति की धर्म के कारण कीर्ति फैली उस को वृषभ कहते हैं। तथाच

वृषभः आदित्यः। प्रजानां ऋषभः। जैमनीयब्राह्मण। १।२९।८

अर्थात् वृषभ का अर्थ आदित्य है। आदित्य में श्लेष है जिस के दो अर्थ हैं एक आदित्यवंशी तथा दूसरा अर्थ सूर्यपरक है। आदित्यवंशी कहने का अभिप्राय यह है कि एक ऋषभदेव चन्द्रवंशी राजा भी हुआ है। उस से प्रथक करने के लिये शास्त्रकार ने आदित्य विशेषण लगाया है। चन्द्रवंशी ऋषभदेव कुशाग्र के पश्चात् हुआ है। परन्तु हमारा अभिप्राय उन से बहुत समय पूर्व में हुये ऋषभदेव जी से है। उपरोक्त ब्राह्मण में स्पष्ट है कि यह आदित्य वृषभ प्रजाओं का पालक है। अर्थात् यह सूर्यवंशी वृषभ महाराज आदर्श राजा हैं।

ऋषभो वा पशूनामधिपतिः। तां० ब्रा० १४। २। ५।

ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः। शत०। ५। २। ५। १७

इन स्थलों में पशुओं के अधिपति तथा उन के स्वामी को ऋषभ कहा है। पशु का अर्थ स्वयं ब्राह्मणकारने इस प्रकार किया है-

(अग्निः) एतान्पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम्। यदपश्यत्तस्मादेते पशवः। शत० ब्रा० ६। २। १। २

अर्थात् अग्नि ने (प्रजापति ने) पुरुष, अश्व, गौ, भेड बकरी इन पांच पशुओं को देखा। क्यों कि इन को देखा इस लिये इन का नाम पशु रक्खा गया। तथाच

श्रीर्वै पशवः। तां० ब्रा० १३। २। २

पशवो यशः। शत० ब्रा० १। ८। १। ३८

शान्तिः पशवः। तां० ४। ५। १८

पशवो वै रायः। शतपथ ३। ३ १। ८।

आत्मा वै पशुः। कौत्स्य, ब्रा० १२। ७

अर्थात् शास्त्रों में पशु शब्द के इतने अर्थ किये हैं—

१—मनुष्य तथा अन्य उपयोगी जानवर। तथा, श्री, यश, शांति,

धन, आत्मा, प्राण, प्रजा आदि अनेक अर्थों में पशु शब्द का व्यवहार हुआ है। वैदिक साहित्य की यह विशेषता है।

अभिप्राय यह है कि पशुपति शब्द का अर्थ हुआ प्रजा, श्री, यश, धन, प्राण, आत्मा आदि का स्वामी। और पशुपति और ऋषभदेव शब्द एकार्थक शब्द हैं। अतः ऋषभ शब्द के उपरोक्त सब अर्थ हुये। इस के पशुपति का अर्थ करते हुये ब्राह्मणों ने लिखा है कि—

रुद्रः, सर्व, शर्व, उग्र, अशनि, भवः, महादेवः, ईशानः अग्निरूपाणि कुमारो नवमः। शतपथ, ६। १। ३। १८।

अग्निर्वै स देव तस्यैतानि नामानि शर्व इति प्राच्या आचक्षते भव इति, यथा वाहीकाः पशूनां पति रुद्रो अग्निरिति।

अग्निर्वै पशूनामीरुहे। शत०, ५।७।३ ८

इस का अभिप्राय यह है कि, रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान आदि सब नाम अग्नि के हैं। सार यह है कि ये सब नाम एकार्थक हैं। अर्थात्—प्रजापति, ब्रह्मा, पशुपति, रुद्र, शिव, महादेव, भव आदि उसी व्यक्ति के नाम हैं जिन को श्री ऋषभदेव जी के नाम से हम स्मरण करते हैं।

वेदों में इन सभी नामों से श्रीऋषभदेव की स्तुति की गयी है।

श्री ऋषभदेव जी के अनेक नामों का उल्लेख जैन शास्त्रों में है, उन में उपरोक्त सब नाम भी स्पष्ट दिये हैं।

कर्म सिद्धान्त

योग के तत्वज्ञान ने इस की मीमांसा करके कि इस जगत् में आत्मा को दुःख क्यों होता है यह निश्चित किया है कि इन्द्रियां विषयों की तरफ आत्मा को बार २ खींचती हैं। इसलिये दुख होता है। अर्थात्—दुख के नाश करने का साधन यह है कि इन्द्रियों को मनसहित रोका जाय और समाधि में जीवात्मा का परमात्मा से एकीकरण किया जाय। परन्तु यह बात अत्यन्त कठिन है। साधारणतया मनुष्य प्राणी संसार में मग्न रहता है और इन्द्रियों का निरोध करना अथवा मन स्वस्थ बिठाना यह दोनों बातें एक समान ही कठिन हैं। इस कारण जीव को जन्म मरण के चक्कर में पड़ कर कर्मानुरोध से संसार की अनेक योनियों में घूमना पड़ता है।

जिस प्रकार यह महत्व का सिद्धान्त कि जीव का संसरण कर्मानुसार होता है। भारतीय आर्यतत्वज्ञान में स्थापित हुआ। उसी प्रकार उपनिषदों में भी कर्म और जीव के संसारत्व का मेल मिलाया हुआ हमारी दृष्टि में आता है। जीव भिन्न २ योनियों में कैसे जाता है अथवा एक ही योनि के भिन्न २ जीवों को दुखसुख न्यूनाधिक क्यों होता है, इस विचार का सम्बन्ध दृष्टि से है। यह एक अत्यन्त महत्व का सिद्धान्त भारतीय आर्य तत्व ज्ञान में है। अन्य किसी देश में इस सिद्धान्त का उद्गम नहीं दिखाई पड़ता। पाश्चात्य तत्वज्ञान में इस का कारण कहीं नहीं बतलाया गया है, कि मनुष्य को जन्मतः भिन्न २ परिस्थिति क्यों प्राप्त होती है। ईश्वर की इच्छा अथवा दैव, अथवा य इच्छा के अतिरिक्त कोई कारण वे नहीं दिखला सकते। कर्म के सिद्धान्त से एक प्रकारसे नीति का बन्धन उत्पन्न होता है। यह ही नहीं किन्तु कर्म सिद्धान्त से यह बात निश्चित होती है कि इस जगत् की भौतिक क्रांतियां जिस प्रकार नियम बद्ध हैं, उसी प्रकार व्यवहारिक क्रांतियां भी एक अवधित नियम से बन्धी हुई है। वे यदृच्छाधीन नहीं है। इस के सिवा यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं है कि कर्म सिद्धान्त का मेल पुनर्जन्म के सिद्धान्त से है। कर्म अनादि माना गया है, क्यों कि यह प्रश्न रह ही जाता है कि बिल्कुल प्रारम्भ में ही जीव ने भिन्न २ कर्म क्यों किये, इस लिये ऐसा सिद्धान्त है कि जैसे संसार अनादि है और उस का आदि और अन्त कहीं नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्म अनादि हैं और ईश्वर प्रत्येक प्राणी को उस के कर्मानुसार भले बुरे कार्य के लिये पारितोषिक अथवा दंड देता है कर्म का अन्त और संसार का अन्त एक ही युक्ति से हो सकता है।

परब्रह्मस्वरूप

यहाँ वेदान्त के आस्तिक मत मे बतलाये हुये परब्रह्म का हम को विशेष विचार करना चाहिये। परब्रह्म की कल्पना भारतीय आर्यो की ईश्वर विषयक कल्पनाओं का अत्युच्च स्वरूप है ईश्वर की कल्पना सब लोगों में बहुधा व्यक्त स्वरूप की अर्थात मनुष्य के समान ही रहती है, अर्थात मनुष्य को छोड़ कर केवल सर्व-शक्तिमान निर्गुण ईश्वर की कल्पना करना बहुत कठिन काम है। उपनिषदों में परब्रम का बहुत ही वक्तृत्व पूर्ण और उच्च वर्णन है जिस का मनुष्य से अथवा सगुण स्वरूप से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भारतीय आर्यों की तत्वविवेचक बुद्धि के अकुतोभित उच्च विकास का वह एक अप्राप्य फल है और इस कारण वह अत्यन्त तेजस्वी तथा प्रभावशाली है। महाभारत काल में निर्गुण उपासना बहुत

पीछे हट गई थी और सगुण उपासना बढ़ गई थी। इस के अतिरिक्त भारतीय तत्वज्ञान का विकास कितनी ही शताब्दियों तक भिन्न २ दिशाओं तक हुआ था और परस्पर अनेक विरोधी तत्वज्ञान के सिद्धान्त प्रचलित हो गये थे। इस भांति अन्ध श्रद्धा के भिन्न २ भोलेभाले सिद्धान्त भी उपस्थित हो गये थे। इस कारण महाभारत में तत्वज्ञान की चर्चा करने वाले जो भाग हैं वह एक तरह में क्लिष्ट और गूढ़ कल्पनाओं और विरोधी वचनों से भरे हुये हैं, तथा भिन्न २ मतों के विरोध को हटादेने के प्रयत्न बहुत मिश्रत हो गये हैं। इस कारण उपनिषदों की तरह एक ही मत से और एक ही दिशा से बहती जाने वाली बुद्धिमत्ता की भारी बाढ़ से पाठकगण तल्लीन नहीं हो पाते। उपनिषदों की भांति परब्रह्म के उच्च वर्णन भी महाभारत में नहीं हैं। ब्रह्मैक्य होने पर जो अवर्णनीय ब्रह्मानन्द होता है उस के वर्णन भी महाभारत में नहीं हैं। अथवा मुक्तावस्था में केवल ब्रह्मस्वरूप का ध्यान कर के, सब वैषयिक वासनाओं का त्याग कर के ब्रह्मानन्द में मग्न होने वाले मुनियों की दशा के वर्णन भी महाभारत में नहीं है। फिर भी उपनिषदों का ही प्रकाश महाभारत पर पड़ा है। भगवद्गीता भी उपनिषद् तुल्य है। और उच्च कल्पनाओं से भरी हुई है। सनत्सुजातीय आख्यान में भी कोई २ वर्णन वक्तृत्व पूर्ण है। उस से ब्रह्म का वर्णन और ब्रह्म से एक्य पानेवाली स्थिति के सुख का वर्णन हम यहां पर उदारणार्थ लेते हैं। पर ब्रह्म जगत का परम आदि कारण। और अत्यन्त तेजस्वरूप और प्रकाशक है। उसी को योगी अपने अन्तर्याम से देखते हैं उसी से सूर्य का तेज मिला है और इन्द्रियों को भी शक्ति उसी परब्रह्म से मिली है। उस सनातन भगवान् का दर्शन ज्ञानयोगियों को ही होता है। उसी

परब्रह्म से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है और उसी की सत्ता से यह जगत चल रहा है। उसी के तेज से ब्रह्मांड की सारी ज्योतियां प्रकाशमान् हैं। वह सनातन ब्रह्मयोगियों को ही दिखाई पड़ता है। जल जल से उत्पन्न होता है सूक्ष्म महाभूतों से स्थूल महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। यह सारी जड़ चेतन सृष्टि मनुष्य देव इत्यादि सम्पूर्ण पृथ्वी भर जाती है। और तीसरा आत्मा अशान्त और तेजोयुक्त सारी सृष्टि को और पृथ्वी को और स्वर्ग को धारण कर रहा है। उस आत्मारूपी परब्रह्म को और सनातन भगवान को योगी लोग देखते हैं। इसी आदि कारण से ऊंची नीची सब जीव सृष्टि और पृथ्वी आकाश दिशायें भी उसी से निकली हैं और सब नदी और अपरम्पार समुद्र भी उसी से निकले हैं उस भगवान् को योगी देखते हैं। उस सनातन परमात्मा की और जीवात्मा नश्वर देह रूपी रथ में इन्द्रियरूपी घोड़े जोत कर दौड़ाता है। उस परब्रह्म की कोई मूर्ति अथवा प्रतिकृति नहीं हो सकती, अथवा उसे आँखों से देख भी नहीं सकते। परन्तु जो लोग अपने अस्तित्व अपने तक बुद्धि और हृदय से ग्रहण करते हैं वे अमर होते हैं। यह जीव नदी बारह प्रवाहों से बनी है। इस का पानी पाकर और उस पानी के माधुर्य से मोहित होकर असंख्य जीवात्मा इसी आदि कारण के भयंकर चक्कर में फिरते रहते हैं। ऐसे उस सनातन भगवान को ज्ञानयोगी ही जानते हैं। यह सदैव संसरण करने वाला जीव अपना सुकृत चन्द्र लोक पर भोग कर आधा पृथिवी पर भोगता है। जीवात्मारूपी पक्षी पंख रहित हैं और सुवर्णमय पत्तों से भरे हुये अश्वत्थ वृक्ष पर आकर बैठते हैं। फिर उनके पंख फटते हैं जिन से वे अपनी इच्छा के अनु-

सार चारों ओर उड़ने लगते हैं। इस पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण उत्पन्न हुआ है उसी से दूसरे पूर्ण उत्पन्न हुये हैं और उन पूर्णों से चाहे इस पूर्ण को निकाल डाले तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। इस प्रकार के उस सनातन भगवान को योगी लोग ही देखते हैं। उसी से वायु उत्पन्न होते हैं और उसी की ओर लौट जाते हैं। अग्नि चांद उसी से उत्पन्न हुये हैं। जीव भी वहीं से उत्पन्न हुआ है। संसार की सब वस्तुएं वहीं से उत्पन्न हुई हैं। पानी पर तैरनेवाला यह हंस अपना एक पैर ऊँचा नहीं करता परन्तु यदि वह करेगा तो मृत्यु और अमरत्व दोनों का संबन्ध टूट जायेगा। मनुष्य को केवल हृदय से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है। जिस से उसकी इच्छा हो उस को मन का नियमन करके दुख का त्याग करके अरण्य में जाना चाहिये और यह भावना रखकर कि मुझे किसी का भी मान न चाहिये। मुझे मृत्यु भी नहीं और जन्म भी नहीं, उसे सुख प्राप्ति से आनन्दित न होना चाहिये। किन्तु परमेश्वर के प्रति स्थिर रहना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य यत्न करता है वह इस बात से दुःखित नहीं होता कि अन्य प्राणी अन्य बातों में रत हैं। हृदय में रहने वाला अंगुष्ठ प्रमाण आत्मा यद्यपि अदृश्य है तथापि वही आदि परमेश्वर है। ऐसे सनातन भगवान को योगी ही अपने में देखते हैं। महाभारत का उपर्युक्त परब्रह्म वर्णन बहुत ही वक्तृत्वपूर्ण है परन्तु कुछ गूढ़ भी है। उन में अवर्णनीय परब्रह्म के वर्णन का प्रयत्न किया गया है वह यद्यपि उपनिषदों के वर्णन की भांति हृदयङ्गम नहीं है तथापि सरस और मन पर छाप बैठाने वाला है। पाश्चात्य तत्ववेत्ताओं ने भी परमेश्वर का स्वरूप परमात्मा कह कर वर्णन किया है परमात्मा और जीवात्मा ये दो आत्मा प्लोटो के तत्वज्ञान को स्वीकार हैं।

साँख्यमत

"सकालेनेहमहता योगो नष्टःपरंतमः।" इस गीता वाक्य के अनुसार जब योगमत नष्ट होगया उसके पश्चात् सांख्य मत भारत वर्ष में प्रचलित हुआ। इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। ऋग्वेद में कपिल का उल्लेख है परन्तु उसके अर्थों में बड़ा भारी विरोध है। गंगा कार्यालय ऋग्वेद भाष्य में उस का अर्थ, दस-अंगिराजों में कपिल है ऐसा अर्थ किया है। अनेक विद्वान उस का अर्थ सूर्यपरक करते हैं। परन्तु प्रकरण वश सूर्यपरक अर्थ नितान्त असंभव है। क्योंकि वहां विश्वामित्र आदि ऋषियों की उत्पति भी लिखी है। उस के पश्चात् दस अंगिराओं की उत्पत्ति भी लिखो है। उस के पश्चात यह मन्त्र है कि—

दशानामेकं कपिलं समानम्। ऋ० मं० १० सू० २७। १६

जिस का स्पष्ट अर्थ है कि दस अंगिराओं में एक कपलि है।

हां यह माना जा सकता है कि यहाँ कपिल का अर्थ कपिल ऋषि न हो कर पीतवर्ण वाला हो अर्थात् यह संभव है कि इस मन्त्र का अर्थ यह हो कि इस अङ्गिराओं में एक पीतवर्ण वाला था। ऐसा होने पर यह मानना पड़ेगा कि कपिल का वर्णन वेदों में नहीं है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि सिद्धानां कपिलो मुनिः। अर्थात् सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं। अभिप्राय यह है कि सिद्धों में कपिल मुनि सर्व श्रेष्ठ हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता नामक ग्रन्थ में लिखा है कि कपिल त्रेता के आदि में हुये अ० ११। वहाँ अवान्तर-तपा, हिरण्य गर्भ और कपिल का त्रेता के प्रारम्भ में उत्पन्न होना लिखा है कि इन्हों ने वेद, तथा सांख्य मार्ग एवं योग मार्ग को क्रमशः प्रचलित किया। यह प्रमाण कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। कारण यह है कि प्रथम तो यही अत्यन्त विवादास्पद विषय है कि त्रेता का आदि कब था तथा तीनों ऋषियों का एक साथ होना भी गलत है। तीसरी बात यह है कि यह पुस्तक नवीनतर है। सम्भवतः ईसा से बाद की यह रचना है। महाभारत सभापर्व अध्याय ७२ श्लो० ६ में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कपिल मुनि विद्यमान थे।

याज्ञवल्क्यं च कपिलं च कालापं कौशिकं तथा।

इस से स्पष्ट सिद्ध है कि सांख्य मत का प्रचार महाभारत के समय में हुआ।

सांख्य सिद्धान्त

सामान्यतया सांख्य के २४ या २५ तत्व गिने जाते हैं। परन्तु इतिहास से पता चलता है कि पहिले सांख्यों के तत्व निश्चित् नहीं थे। महाभारत शान्ति पर्व अ० २७५ में असित और देवल का संवाद दिया है। उस में सृष्टि के तत्व इस प्रकार गिनाये हैं।

महाभूतानि पञ्चैते तान्याहुर्भूतचिन्तकाः।
तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्मप्रचोदितः॥
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम्।

इस में स्पष्ट ही है कि सृष्टि के आठ कारण हैं। पांच महाभूत, काल, बुद्धि, वासना। यह निश्चित् है कि ये तत्व चार्वाक मत के नहीं थे। संभव है सांख्यों के ही ये तत्व हों क्यों कि असित देवल, कपिल के शिष्य थे। एक स्थान पर सांख्यों के १७ तत्वों का उल्लेख है।

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः॥

शान्ति पर्व भीष्मस्तव

इस में पांच महाभूत, दशेन्द्रिय, और मन ये सोलह तत्व गिना कर १७ वां आत्मा मान कर १७ तत्व गिनाये हैं। प्रतीत होता है कि सांख्यों में तथा योग मत में पहले यही १७ तत्व अथवा कुछ भेद से दोनों में समानतया माने जाते थे। परन्तु बाद में सांख्य के अन्य पञ्चशिख आदि आचार्यों ने तत्वों की सख्या बढ़ाकर २४ अथवा २५ करदी। महाभारत तथा गीता के स्वाध्याय से पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में सांख्य मत की दुन्दुभी बज रही थी इस लिये शायद योगमत वालों ने भी इन २५ तत्वों को स्वीकार कर लिया हो, तथा उस में आत्मा के दो भेद करके २६ तत्व माने गये हों। वास्तव में योगमत के २५ या २६ तत्वों की प्रसिद्धि नहीं है। पुराणादि अन्य किसी ग्रन्थ से इस की साक्षी भी नहीं मिलती।

सांख्य वेद विरोधी था

महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय २६८ में गाय और कपिल

की एक कहानी लिखी है। उस समय यज्ञों में गोवध होता था, गौ ने आकर कपिल से रक्षा की प्रार्थना की उन्हों ने अपना स्पष्ट मत घोषित किया कि वाहरे वेद तेरी भी अजब लीला है तूने हिंसा को ही धर्म कह दिया। प्रतीत होता है उन्हों ने इस के विरुद्ध प्रचार भी डट कर किया होगा। संभवतः ब्राह्मणों ने इसी लिये इस को नास्तिक की पदवी दी होगी। वहां स्पष्ट लिखा है कि 'हिंसा' धर्म नहीं हो सकता चाहे वह श्रुति में ही क्यों न लिखा हो।

ईश्वर और सांख्य

सांख्यमत प्रारम्भ से ही ईश्वर का विरोधी है। महाभारत शान्ति पर्व अ० ३०० में सांख्यवादियों और योग मार्गियों के शास्त्रार्थ का उल्लेख है।

उस में लिखा है कि योग वाले कहते थे कि ईश्वर है तथा सांख्य वाले कहते थे कि ईश्वर नहीं है योगी लोग कहते थे कि यदि ईश्वर नहीं मानोगे तो मुक्ति कैसे होगी। सांख्य वाले कहते थे कि स्वयं मुक्ति हो जायेगी। इत्यादि

> सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
> अनीश्वरः कथंमुच्येदित्येवं शत्रु कर्शनः ॥ २ ॥

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि योगियों का ईश्वर वर्तमान मान्यता के अनुसार सृष्टि कर्ता आदि गुणों वाला नहीं है अपितु मुक्ति के लिये अवलम्बन मात्र मुक्त आत्मा ही योगमत का परमात्मा है, यह हम पूर्व योग के कथन में दिखला आये हैं। श्रीमान् लोकमान्य बाल गंगाधर जी तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में स्पष्ट लिखा है कि सांख्यों को द्वैत वादी अर्थात् प्रकृति और पुरुष को अनादि मानने वाला कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव, या अन्य मूलतत्व को

नहीं मानते। इस का कारण यह है कि यदि ईश्वर आदि सगुण हैं तब तो उन के मतानुसार वे प्रकृति से उत्पन्न हुये हैं और यदि निर्गुण मानें तो निर्गुण से सगुण पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता। 'गीता रहस्य' में ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्य-तत्व-कौमुदी' का एक ऐसा श्लोक लिखा है जो प्राचीन पुस्तकों में था परन्तु बाद में किसी ईश्वरभक्त ने निकाल दिया था। वह निम्न प्रकार है।

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

इस श्लोक में तीनों कारणों का स्पष्ट खण्डन किया है। इस विषय के लिये 'गीता रहस्य' अधिक सुन्दर ग्रन्थ है। याद रखना चाहिये कि वर्तमान सांख्य दर्शन से यह 'सांख्य-तत्व-कौमुदी' बहुत प्राचीन है और सांख्यों का वास्तविक ग्रन्थ यही है। ऐसा सभी विद्वानों का मत है। अतः सांख्य कट्टर निरीश्वरवादी था यह सिद्ध है।

सांख्य और सन्यास

जहां सांख्य वैदिक क्रिया काण्ड का विरोधी था वहां सांख्य संन्यास का भी विरोधी था। शान्ति पर्व अध्याय, ३२० में लिखा है कि धर्म्मध्वज जनक पंचशिखाचार्य का शिष्य था उस का और सुलभा का वहां विवाद दिया है। सुलभा संन्यास के पक्ष में थी और जनक विपक्ष में था। जनक ने कहा कि—

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

इस का खण्डन सुलभा ने किया है। अतः स्पष्ट है कि सांख्य वादी उस समय के संन्यास के भी विरोधी थे। इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि कपिल वेद-विरोधी मत था। योग मत में भी

वैदिक क्रिया काण्डों के लिये कोई स्थान नहीं था। तथा न वह ईश्वर की ही कोई प्रथक सत्ता मानता था। इस लिये ये दोनों सम्प्रदाय एक ही समझे जाते थे। एक बात और भी है कि दोनों में अहिंसावाद की समानता थी तथा वैदिक हिंसा के दोनों हो विरोधी थे। परन्तु योग मत संन्यास को मानता था, उस में तप प्रधान था तथा सांख्य में केवल ज्ञान ही प्रधान था। साँख्य मत उपवास आदि को भी नहीं मानता था। योगमत में क्योंकि तप की प्रधानता थी और कठिनतर हो गई थी जनता उस से ऊब गई थी ऐसे समय में सांख्य ने अपने सुगम ज्ञान मार्ग का प्रचार किया, जनता तो प्रथम से ही किसी ऐसे सुलभ धर्म्म की खोज में थी बस जनता को कपिल का सहारा मिल गया इस लिये योगमत नष्ट प्राय: हो गया और भारत में साँख्य का नाद गुञ्जायमान होने लगा। एक समय था जब बौद्धमत की तरह साँख्य मत का भी भारत में साम्राज्य था, इस के अनेक आचार्य हुये हैं।

साँख्यतत्वों की भिन्न २ मान्यतायें

शान्ति पर्व अध्याय ३०६ से ३०८ तक साँख्यों के २४ तत्व इस प्रकार हैं—

१ प्रकृति २ महत् ३ अहंकार, ४ से ८ तक पाँच सूक्ष्म भूत ये आठ मूल प्रकृति हैं तथा पांच स्थूल भूत और पांच इन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये २४ तत्व साँख्यों के निश्चित किये हैं। २५ वाँ तत्व पुरुष अथवा आत्मा है। वनपर्व के युधिष्ठिर-व्याध-सम्वाद में भी २४ तत्वों का उल्लेख है। परन्तु वे उपर्युक्त तत्वों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापश्च ताश्च भू:।
शब्द: स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्च तद्गुणा:॥

षष्ठश्च चेतना नाम मन इत्यभिधीयते।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥
इन्द्रियाणि च पंचात्मा रजः सत्वं तमस्तथा।
इत्येव सप्तदशको राशिरव्यक्त संज्ञकः ॥
सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येवं व्यक्ताव्यक्तमयोगुणः ॥ अ० २१०

अभिप्राय यह है कि ५ महाभूत, ६ मन, ७ बुद्धि, ८ अहंकार ५ इन्द्रियां तथा ५ इन के अर्थ तन्मात्राये'। व्यक्त और अव्यक्त इस प्रकार २४ तत्व यहां माने गये हैं। परन्तु है गड़बड़, क्योंकि जब १७ तत्वों को १७ की राशी को अव्यक्त कह चुके हैं तो पुनः व्यक्त और अव्यक्त पृथक कैसे गिना दिये। इत्यादि अनेक बातें यहां विचारणीय हैं। इसी प्रकार कहीं १७ तत्व हैं तो कहीं १६ माने गये हैं। कहीं २४ तो कहीं २५ और कहीं २६ भी कह दिये हैं। इन सब परस्पर विरुद्ध बातों से स्पष्ट है कि उस समय तक सांख्य के तत्व निश्चित नहीं हुये थे और इन तत्वों के मानने में भी विद्वानों की अनेक शंकाए' थीं। उसी समय चार्वाक मत का भी प्रचार होने लगा था। उस के अनुयायी आकाश को कोई तत्व नहीं मानते थे। अन्य परोक्ष तत्वों की तो बात ही क्या थी। इसी प्रकार सांख्य मत के साथ साथ चार्वाक मत का भी भारत में जन्म हुआ परन्तु फिर भी उसने जनता में तर्क बुद्धि उत्पन्न कर दी थी। इसी लिये सांख्य विषयक अनेक सिद्धान्तों में लोगों को शंकाएं उठने लगी थीं। इन शंकाओं ने शनैः २ अपना विकराल रूप धारण किया और जनता में चार्वाक मत का प्रचार उन्नति करने लगा।

तत्वों पर आपत्ति

१—सांख्य शास्त्रमें ये २४ तत्व मानने का क्या आधार है !

२—सूक्ष्म पंच महाभूत तथा मूल अव्यक्त प्रकृति के मध्य २ अन्य तत्व, महत् और अहंकार किस कारण से रखते हैं!

३—सूक्ष्म पंच महाभूत तथा स्थूल पंच महाभूत प्रथक २ क्यों मानें!

४—जो १६ विकृतियां तत्व रूप से मानी गई हैं अर्थात् ५ महाभूत, १० इन्द्रियाँ, तथा मन इन को तत्व मानने में कुछ भी विद्वत्ता नहीं दीखती, ये तो प्रत्यक्ष हैं तथा कार्य हैं। यदि इसी प्रकार तत्व मानोगे तो सम्पूर्ण विकारों को तत्व मानना चाहिये। इत्यादि अनेक प्रश्न थे जिन का सांख्य कुछ उत्तर न दे सका इस लिये धीरे२ उन का ह्रास होता गया! सांख्य और योगमत के ह्रास होने पर यहां बृहस्पति के चार्वाक का प्रचार हुआ!

महाभारत शान्तिपर्व अ० १८३ में भृगु भारद्वाज सम्वाद आया है। उस में भृगु जी कहते हैं कि पहले ब्रह्मा जी ने जल उत्पन्न किया। उस समय सूर्य इत्यादि कुछ भी नहीं था। उस शून्य आकाश में जैसे एक अन्धकार में दूसरा अन्धकार उत्पन्न हो, उसी प्रकार जल उत्पन्न हुआ और उस जल की बाढ़ से वायु उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार घड़ा पानी से भरते समय शब्द करता है उसी प्रकार जब आकाश पानी से भरने लगा तो वायु शब्द करने लगा। वायु और जल के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न हुआ। वायु से घनत्व पाया हुआ वह अग्नि पृथ्वी बनकर नीचे गिरा। परन्तु इस के विरुद्ध अ० २७५ में देवल ने नारद से कहा है कि सृष्टि उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार है—

अक्षर से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधी, औषधी से

अन्न तथा अन्न से जीव उत्पन्न हुआ। यही क्रम उपनिषद् आदि अन्य ग्रन्थों में आया है। तथा च, ऋग्वेद मं० १० सूक्त ८२ म० ६ है कि—

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो ॥

अर्थात् प्रथम जल उत्पन्न हुआ, उसी जल ने विश्वकर्मा को गर्भ में धारण किया। तथा च—

आपोह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥ शतपथ० ११।१।६।१

तथा इसके विरुद्ध छान्दोग्योपनिषद् ६।२ में लिखा है कि ब्रह्मा ने पहले तो तेज को उत्पन्न किया तथा उसके पश्चात् जल को बनाया। इत्यादि अनेक मतभेद इस विषय में हैं। जहां तक अन्वेषण किया जाये वहीं तक इस का विरोध ही विरोध प्रतीत होता है। मनुस्मृति कुछ अन्य ही कहती है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों का मतभेद है। कहीं पानी में एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उसी से सब सृष्टि उत्पन्न हुई लिखा है। तैत्तरीय उपनिषद् में लिखा है कि पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, और अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। तै० उ० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १

ये परस्पर विरोध ही सृष्टि उत्पत्ति की कल्पना को सिद्ध कर रहे हैं। वास्तव में न तो सृष्टि कभी बनी और न नष्ट होने वाली है। यह जिस अवस्था में अब है उसी अवस्था में हमेशा से है और उसी अवस्था में रहेगी। इस विषय का विशेष वर्णन हम 'विश्व विवेचन' नामक ग्रन्थ में करेंगे।

पंचमहाभूत–कल्पना।

जैनशास्त्रानुसार मूल प्रकृति जिसे पुद्गल कहते हैं एक ही प्रकार की है, अर्थात् अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आदि के पृथक २ परमाणु नहीं हैं, अपितु ये सब एक ही मूल पदार्थ के विकार हैं। वैदिक दर्शनों का भी पूर्व समय में ऐसा ही सिद्धान्त था। वैदिक साहित्य में प्रत्यक्ष ही इन महाभूतों की उत्पत्ति एक ही पदार्थ से लिखी है। हम इस का वर्णन क्रमशः करते हैं। गीता रहस्य में विश्व की रचना और संहार प्रकरण में इस बात को भली भांति सिद्ध किया है कि यह "पंचीकरण" पांच भूतों की कल्पना प्राचीन शास्त्रों में नहीं है। अपितु वहां तो त्रिवृत्त की कल्पना है अर्थात् वहां तीन भूत ही माने गये हैं। (१) अग्नि (तेज) (२) आप (पानी) (३) अन्न अर्थात् पृथ्वी। छान्दोग्योपनिषद् में इस का स्पष्ट वर्णन है। छान्दोग्य० (६। १। ६) इसी प्रकार वेदान्त सूत्र में भी पांच महाभूत नहीं माने अपितु ३ ही माने हैं। गीता रहस्य पृ० १८६।

४ भूत

भारतवर्ष में एक चार्वाक मत था जो कि नास्तिक मत के

नाम से प्रसिद्ध था। उस के आचार्य चार्वाक थे। ये दुर्योधन के सखा थे। उन्हों ने चार ही भूतों को माना है आकाश को नहीं माना। इसी प्रकार ग्रीक लोग भी चार ही भूत मानते हैं।

एक तत्व,

वास्तव में यदि देखा जाय तो वैदिक साहित्य में एक तत्व मान्य है। तैत्तरीयोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि, आत्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायु, और वायु से अग्नि और अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। (२। १) तथा च ऋग्वेद में हम देखते हैं कि इस के विषय में भिन्न २ मत दिये हैं। यथा

देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत। ऋ० १०। ७२। ७

अर्थात् देवताओं से भी पूर्व असत् से सत् उत्पन्न हुआ। यहां असत् का अर्थ अव्यक्त किया जाता है। तथा च

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋ० १। ११४। ५

अर्थात् एक ही मूल कारण को अनेक नामों से कल्पना किया गया है। तथा च लिखा है कि पहले आप (पानी) था उस से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। इसी प्रकार कहीं आकाश को ही मूल तत्व लिखा है। छान्दोग्य० (१। ९) तथा च इन सब का खण्डन, नासदीय सूक्त में कर दिया है। यह सू० ऋ० १०। १२९ है। इस प्रकार वैदिक साहित्य मूल भूत एक ही तत्व को मानता है, उस के पश्चात् तीन तत्वों की कल्पना हुई और फिर ४ तत्व माने जाने लगे, पुनः पांच का सिद्धान्त प्रचलित हो गया।

परन्तु आज भौतिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पांच प्रकार के पृथक २ परमाणु नहीं हैं, अपितु मूल परमाणु एक ही प्रकार के हैं और अग्नि आदि सब एक ही वस्तु के विकार हैं। वास्तव में सांख्यशास्त्र का भी यही सिद्धान्त था, वह इन पांच महाभूतों को मूल तत्व नहीं मानता था अपितु इन को उत्पन्न हुआ

मानता था। ये सब एक ही प्रकृति के विकार हैं ऐसा उन का स्पष्ट मत था। हां प्रकृति को कपिल देव अवश्य त्रिगुणात्मक मानते थे। परन्तु वे गुण भी मूल में नहीं थे उस की विकृत अवस्था में थे, क्यों कि मूल प्रकृति तो अव्यक्त है।

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत्समुत्पन्नं द्वितीय राजसत्तम ॥
अहंकारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पंच भूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥

शान्ति पर्व अ० ३०३

अर्थात् सांख्य शास्त्रकार, परा प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं, तथा उस परा प्रकृति से महत् उत्पन्न हुआ, और महत् से अहंकार पैदा हुआ तथा उस से पाँच सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुये। यहाँ स्पष्ट ही एक मूल तत्व माना है जिस का नाम यहां परा प्रकृति अथवा अव्यक्त है उस के पश्चात् उस से महत् और महत् से अहंकार और उस से पाँच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति बतलाई, अतः स्पष्ट है कि सांख्य में पाँच भूत मूल तत्व नहीं है अपितु अव्यक्त (पुद्गल) का विकार हैं। जैन सिद्धान्त भी इन को विकार ही मानता है। इस विषय पर विश्व विवेचन नामक ग्रन्थ में विशेष प्रकाश डालेंगे। यहां तो संक्षेप से इतना दिखलाना था कि प्राचीन भारतीय दर्शनकारों ने अलग २ पांच भूतों की कल्पना नहीं की थी अपितु उन के मत में आत्मा और जड़, ये दो ही कारण इस सृष्टि के थे, जड़ के परमाणु वे पृथक २ जाति के नहीं मानते थे अपितु मूल परमाणु एक ही प्रकार के माने जाते थे, उन्हीं के संयोग से अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि बनते थे। मूल पाँच भूतों की कल्पना अवैदिक एवं नवीन और वर्तमान विज्ञान के विरुद्ध है। इस विषय में जैन सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है।

हिमालय की कथा

हिमालय पर्वत भारतवर्ष के उत्तर में पेशावर से ब्रह्मा देश तक प्रायः १५०० मील लम्बा तथा मध्य एशिया के पामीर पठार और गङ्गा तथा सिन्धु के मैदान के बीच में लगभग १५०–२०० मील चौड़ा फैला हुआ है। प्रवाहित तुषार सहित को अपने वक्ष-स्थल पर धारण करने वाले इस के गगनचुम्बी उत्तुङ्ग शिखर (माउंट एवरेस्ट, किंचनजंगा, धवलगिर और नंगा पर्वत आदि) सारे भूमण्डल में प्रसिद्ध हैं। इतना बड़ा पर्वत संसार में और कोई नहीं है। इसी से हिमालय 'पर्वतराज' भी कहा जाता है। हिमालय प्रकृति देवी की लीला भूमि है। प्रकृति के सौंदर्य और वैभव की वहाँ पराकाष्ठा होजाती है। फूलों और फलों से लदे हुये हरे-भरे वृक्षों और उनसे प्रेम पूर्वक आलिंगन करती हुई

कोमल लताओं से परिपूर्ण उपत्यकाओं में स्वच्छन्द विहार करने वाले, मृगमद के सौरभ से घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने वाले हिरणों की शोभा अनिर्वचनीय है। नाना प्रकार के पक्षियों के कलरव मिश्रित गानों की स्वर लहरी और पुण्यसलिला भागीरथी के मृदङ्ग घोषवत् प्रखर धाराप्रवाह के संयोग से जिस प्रकृति-संगीत का प्रादुर्भाव होता है। उस की मादकता का अनुभव तो वहां भ्रमण करने वाले ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्मत्त योगीजन ही कर सकते हैं। प्राकृतिक वैभव के साथ हिमालय का पौराणिक महत्व भी बड़ा विलक्षण है। पौराणिकों ने हिमालय को देवस्वरूप माना है पुराण प्रसिद्ध कैलाश पर्वत इसी का अंग है। जिसके धवल अंग पर पिनाकपाणि भगवान महादेव का पावनधाम शोभायमान है। पतितपावनी भागीरथी ने यहीं से चल कर सगर पुत्रों का उद्धार किया था और आज भी भारतीय सतान को तार रही है। हिमालय की निर्जन गुफाओं में तपस्या और योग साधन कर ऋषि-मुनियों ने आत्मबल के आधार पर भारतवर्षीय सभ्यता का विकास किया। आज भी सहस्रों यात्री सच्चे सुख और शान्ति की खोज में हिमालय की पावन यात्रा कर अपना जीवन सफल बनाते रहते हैं। आज विज्ञान के युग में वैज्ञानिकों ने हिमालय को अपने अनुसन्धान का लक्ष्य बनाया है और अन्य बातों के साथ २ उस की उत्पत्ति और वृद्धि के कारणों का भी पता लगाया है। जिन्हें हम अपने विज्ञान प्रेमी पाठकों के सन्मुख रख रहे हैं। हिमालय पर्वत वास्तव में अनेक समानान्तर पर्वत श्रेणियों का ढाल दक्षिण तथा सिन्धु और गङ्गा के मैदान की ओर बहुत अधिक है और उत्तर में तिब्बत की ओर कम हैं।

बंगाल तथा संयुक्तप्रान्त के मैदानों से पर्वत श्रेणियां एकाएक

बहुत ऊंची होजाती हैं और इसी से उधर के पहाड़ों का सर्वोच्च शिखर एवरेष्ट इत्यादि पहाड़ों के नीचे मैदानों से बहुत सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। परन्तु पश्चिम की ओर पंजाब की ओर पहाड़ों की ऊंचाई क्रमशः बढ़ती गई है। उधर को ओर हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियां मैदान से प्रायः १०० मील दूर हैं और वहां से दिखाई भी नहीं पड़ती यह पर्वत श्रेणियाँ तीन भागों में बाटी जा सकती हैं। महान हिमालय अथवा केन्द्रस्थ पर्वत श्रेणियां जो कि तुषार रेखा से अधिक ऊंची हैं तथा जिन की औसत ऊंचाई २०,००० फुट या इस से अधिक है। इन्हीं श्रेणियों में 'माउंट एवरेष्ट' आदि उच्च शिखर हैं। जिन में से मुख्य २ ये हैं—

माउंट एवरिष्ट गौरीशंकर नैपाल में	२९,००२ फुट
केर कारोकोरम में	२८,२५० ,,
कंचनजंघा नैपाल में	२८,१०० ,,
धवलगिर ,,	२६,८०० ,,
नंगात पर्व काश्मीर में	२६,६०० ,,
गशेब्रुम कारांकोरम	२६,४७० ,,
गोसाईं थान कमायूं	२६,६५० ,,
नन्दा देवी ,,	२५,६५० ,,
राकापोशी कैलाश में	२५,५५० ,,

"मध्यवर्ती" हिमालय इस की औसत ऊचाई १२००० फुट से १५००० फुट के बीच में है यह प्रायः ५० मील चौड़ा है।

"ब्रह्म हिमालय" शिवालिक श्रेणियाँ, जो कि मैदान और मध्यवर्ती हिमालय श्रेणियों के बीच में है। इन की औसत ऊचाई ३००० से ७००० फुट तक है। प्रायः यह ५ से ३० मील तक चौड़ी है मंसूरी तथा नैनीताल इन्ही श्रेणियों में बसे हुये है।

हिमालय पर्वतश्रेणियां ऊंचाई में जितनी अधिक है, आयु में उतनी ही कम हैं। भूतत्ववेत्ताओं के अनुसार यह पर्वत संसार के सब से नवीन तथा कम आयु वाले पर्वतों में से हैं। वैज्ञानिक अन्वेषण से यह पता लगा है कि, लगभग ३॥ करोड़ वर्ष पहले यहां पर पर्वतों के स्थान में महासागर था। साधारणतया यह बात विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती कि संसार की सब से ऊंची पर्वत मालायें भी कभी समुद्र की तह में रही होंगी। वहां भी कभी अथाह सागर का नीला जलवायु से हिलोर लिया करता होगा और भांति २ के मगर आदि जलचर उस के अन्चल में क्रीड़ा करते होंगे। विश्वास तो क्या, बल्कि प्राचीन पद्धति और विश्वासों के कट्टर अनुयायी तो इस कथा को अनर्गल और पागल का प्रलाप भी कहेंगे। जो वैज्ञानिक सत्य प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल होते हैं सर्व-साधारण को उन्हें मानने में बहुत संकोच हुआ करता है। जब पहले कोपरनिकस ने यह प्रमाणित करना चाहा कि, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता वरन पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, तो उस देश के राजा ने उसे नाना भांति के कष्ट दिये। लुइ पास्टुर ने जब यह खोज की कि, शल्य चिकित्सा में असफल होने का कारण रोगी की भीषणता नहीं, वरन काटने की कैंची, चाकू आदि अस्त्रों को कीटाणुओं से रहित न करना है तो चिकित्सकों और अन्य जनता ने उसे मूर्ख बनाना चाहा और उस के कार्य में बाधायें डालीं परन्तु जिस प्रकार सूर्य रात्रि के अंधकार को दूर कर देता है, वैसे ही वैज्ञानिक खोज भी अज्ञान को हटा कर सत्य को प्रमाणित कर देती है। वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि हिमालयपर्वत के पत्थर-पत्थर और कण २ में सामुद्रिकपर्वत श्रेणी पर चढ़ कर ध्यान पूर्वक देखने से मालूम

होता है कि, वहां की पर्वत शिलायें अव्यवस्थित रूप ढूहों में नहीं पड़ी हैं, वरन एक शिला के ऊपर दूसरी शिला इस प्रकार लगी है, मानों तह के ऊपर तह जमी हो। इस प्रकार के शिला समूह को वैज्ञानिक भाषा में प्रस्तरित अथवा स्तरसंस्थित चट्टानें कहते हैं। यदि आप इन चट्टानों के टुकड़ों की बहुत ही निकट से अथवा अभिवर्द्धकताल द्वारा परीक्षा करें, तो आप देखेंगे कि, ये पत्थर बालू, मिट्टी अथवा चूने के पत्थर के कणों से बने हुये हैं। ये कण बहुत ही सूक्ष्म और गोल मटोल होंगे। शिलाओं का प्रस्तरित होना और छोटे २ कणों से बना हुआ होना, दोनो ही इस बात के द्योतक हैं कि, इन की उत्पत्ति किसी जलाशय की तह में हुई है। यह तो साधारण अनुभव की बात है कि, नदियां और नाले जल के साथ २ मिट्टी और बालू को बहा कर लेजाया करते हैं। मैदानों में बहती हुई नदी ज्यों २ समुद्र के पास पहुँचती जाती है, त्यों २ उस का पानी गदला होता जाता है हरद्वार में जितना स्वच्छ और निर्मल है काशी में उतना नहीं है पटना में गंगाजल काशी से भी गदला है कलकत्ते की गंगा (हुगली) के गदलपन का तो पूछना ही क्या है। नाले और नदियां सभी पृथ्वी काट कर अपना मार्ग बनाया करती हैं। बड़ी २ शिलाओं के बीच से कल२ शब्द कर बहता हुआ जल अपने प्रबल वेग से शिलाओं को काट डालता है। इस प्रकार नदियों की घाटियाँ चौड़ी होती जाती है। पहाड़ों से टूटे हुये पत्थर जल प्रवाह में लुढ़कते पुढ़कते बहते चले जाते हैं, वह पत्थर आपस में टकराने तथा रगड़ खाने से शनैः २ गोल मटोल तथा छोटे होते जाते हैं। पर्वतीय मार्गों में नदियों का वेग बहुत अधिक होता है। इसी से वहाँ पर बड़े बड़े पत्थरों तक को अपने साथ बहाती लेती चली जाती है, इस का वेग प्रका-

एक कम हो जाता है और सब बड़े-बड़े पत्थर वहीं मैदान में पड़े रह जाते हैं। ज्यों-ज्यों नदी मैदान में आगे बढ़ती जाती है, इसका वेग कम होता जाता है और तदनुसार पत्थर ले जाने की शक्ति भी कम होती जाती है। कुछ दूर मैदान में, जाने के बाद, तो यह केवल महीन बालू और मिट्टी को ले सकती है। पत्थर और मोटे बालू के कण तो नदी की तह में धीरे-धीरे बहते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं। ज्यों ज्यों इस महीन बालू और मिट्टी की मात्रा बढ़ती जाती है, पानी अधिकाधिक गदला होता जाता है।

जल के साथ-साथ यह मिट्टी और बालू भी सागर तक पहुँच जाते हैं। दिन प्रतिदिन और वर्ष प्रतिवर्ष नदियां इसी प्रकार बालू और ला-लाकर सागर की तह में एकत्र किया करती हैं। इसी प्रकार बालू और मिट्टी की तह पर तह जमती चली जाती है। इसी प्रकार लाखों वर्षों तक यह पदार्थ समुद्र की तह में जमा होता रहता है। फिर किसी समय किसी आन्तरिक घटना से उत्पन्न हुई गर्मी और दबाव से सब बालू और मिट्टी जमकर कड़ी हो जाती हैं और यह प्रस्तरित शिलाओं का रूप ले लेती हैं बहुधा इस गर्मी और दबाव की उत्पत्ति के साथ-साथ कुछ ऐसी शक्तियां भी उत्पन्न होती हैं, जो इन बनी हुई शिलाओं को एक ओर धक्का देकर, समुद्र की तह से निकाल कर, महा देश का भाग बना देती हैं और इस प्रकार पर्वतों की सृष्टि होती है। हम देखते हैं कि, प्रस्तरित शिलाओं की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि, किसी जलाशय में लाखों-करोड़ों वर्षों तक नदियों द्वारा लाये गये बालू और मिट्टी जमा होती रहे और फिर उस स्थान पर ताप और दबाव इतनी मात्रा में उत्पन्न हों कि, सब संगृहीत मिट्टी और बालू को जोड़ कर ठोस कड़ी शिला का रूप दे सकें इस से हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि, जहां

कहीं प्रस्तरित शिलाएँ हों, वहाँ इन शिलाओं के बनने के समय सागर अथवा झील, ताल आदि कोई जलाशय अवश्य रहा होगा।

हिमालय-पर्वत की शिलाओं की प्रस्तरित बनावट से हम सहज ही विश्वास कर सकते हैं कि भौतात्विक प्राचीन समय में उनके हिमाच्छादित शिखरों के स्थान में सागर जल हिलोरे लेता रहा होगा।

प्रस्तरित होने के अतिरिक्त इन शिलाओं की सामुद्रिक उत्पत्ति को, निश्चयात्मक रूप से, सिद्ध करने वाला एक और भी महत्व पूर्ण प्रमाण है। स्थान-स्थान पर क्षारीय जलचरों के अनगिनत प्राणी-अवशेष इन चट्टानों में मिलते हैं। यदि इन चट्टानों की उत्पत्ति सागर की तह में नहीं हुई, तो यह प्राणि-अवशेष इन चट्टानों में कहां से आ गये ? इन प्राणि-अवशेषों को देखकर यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि, हिमालय पर्वत के स्थान में वहां पर कोई सागर रहा होगा।

इस सागर को भूतत्त्व-वेत्ताओं ने टेथिस [Tethys] नाम से पुकारा है। हिमालय पर्वत के जन्म से कुछ ही पूर्व महादेशों और सागरों का विभाग आजकल के समय से बहुत ही विभिन्न था। अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उस समय भारत का दक्षिणी प्रायद्वीप पूर्व में आस्ट्रेलिया और पश्चिम में अफ्रीका से लगा हुआ था अर्थात् जहां आज कल बङ्गाल की खाड़ी, अरेबियन सागर और हिन्द महासागर हैं, वहां उस समय महादेश था। इस प्राचीन महादेश को "गोंडवाना लैंड" कहा गया है। इसी प्रकार टेथिस महासागर के उत्तर में "अंगारालैंड" और उत्तर-पश्चिम में "आर्कटिक महादेश" माने जाते हैं।

हिमालय पर्वत की शिलाओं तथा उनमें के प्राणि-अव-

शेषों के अध्ययन से पता चलता है कि, यह सब की सब श्रेणियां एक साथ ही उठ कर इतनी ऊँची नहीं हुई हैं। यह उत्थान प्रायः ३ अवस्थाओं में हुआ है।

पहली बार "मध्य ईयोसीन" (Middle Eocene) समय में "महान् तथा मध्यवर्त्ती हिमालय" वाला भाग समुद्र से बाहर निकला और प्रायः १०-१२ हजार फुट ऊँचा उठा। मध्य ईयोसीन काल की अवस्था सौर वर्षों में ठीक-ठीक गिनना प्रायः असम्भव है। अनुमान से यह कोई ३॥ करोड़ वर्ष पूर्व की होगी।

दूसरी बार "मध्य मायोसीन" ❀[Middle Miocene] समय में हलचल हुई और इस बार मरी प्रदेश की श्रेणियों की उत्पत्ति हुई। यह भाग भी प्रायः ८—१० हजार फुट ऊँचा उठा। केन्द्रस्थ महान् हिमालय भी इस हलचल में इतना ही और ऊँचा उठ गया। इस बार यह पहला बना हुआ भाग प्रायः १८—२० हजार फुट ऊँचा हो गया। इस हलचल का समय [मध्य मायोसीन] सौर वर्षों में आज से प्रायः १ करोड़ वर्ष पूर्व है। मध्य ईयोसीन और मध्य मायोसीन के बीच के प्रायः २॥ करोड़ वर्ष तक भी पृष्ठ का यह भाग एक दम शान्त नहीं रहा होगा। समय-समय पर थोड़ा बहुत कम्पन और उत्थान होता रहा होगा। इस कम्पन और उत्थान का प्रमाण शिलाओं में विद्यमान हैं। परन्तु हजारों फीट ऊँचा उठाने वाली हलचल की अपेक्षा तो इस बीच के समय में शान्ति ही रही होगी।

तीसरी बार शिवालिक-श्रेणियों की उत्पत्ति हुई। यह हलचल दूसरे उत्थान के प्रायः ४० हजार वर्ष बाद "प्लायोसीन समय" ❀ के अन्त (Post Pliocene) में हुई। इस बार पृष्ठ प्रायः ३००० से ७००० फुट ऊँचा उठा और फलतः महान्

❀ भौतात्विक काल विभागों के नाम। ❀ भौतात्विक काल-विभाग।

हिमालय प्रायः २२००० से २८००० फुट ऊँचा और मरी प्रदेश तथा मध्यवर्त्ती हिमालय का कुछ भाग १२,००० से १५००० फुट ऊँचा तथा शिवालिक-पर्वत-श्रेणियां ३००० से ७००० फुट ऊँची हुई। इन पर्वतमालाओं की आधुनिक ऊँचाई प्रायः इतनी ही हैं।

यह हिमालय की जन्मकथा-लेख गंगा के विज्ञानांक में श्रीयुत् अनन्त गोपाल भिंगरन एम० एस० सी० द्वारा प्रकाशित हुआ था वहीं से यहां उद्धृत किया है। इस लेख में विद्वान लेखक ने प्रबल प्रमाणों द्वारा इस विषय को सिद्ध किया है कि हिमालय आदि पर्वत किस प्रकार बनते हैं। जो लोग तिब्बत अथवा हिमालय आदि सृष्टि का उत्पन्न होना मानते हैं उनको ध्यान पूर्वक इन युक्तियों का अध्ययन करके अपने विचारों में परिवर्तन करना चाहिये। जैन परिभाषा में इस प्रकार की रचना को सम्मूर्च्छन, जन्म कहते हैं।

हम इस सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखेंगे वहां इस पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जायेगा। यहां तो केवल संकेत मात्र दिया है कि वास्तव में सृष्टि कभी भी उत्पन्न नहीं हुई है।

यह अनादि काल से इसी प्रकार बनती और बिगड़ती रहती है परन्तु सम्पूर्ण सृष्टि न तो कभी नष्ट ही हुई और न कभी उत्पन्न ही हुई। वैदिक साहित्य भी हमारी इसी सम्मति की पुष्टि करता है। जिसके प्रमाण हम अन्य पुस्तक में लिखेंगे।

सृष्टि क्यों उत्पन्न हुई ?

यह देखते हुये कि तत्वज्ञान का विचार भारतवर्ष में कैसे बढ़ता गया, हम यहाँ पर आ पहुंचे। अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि निष्क्रिय अनादि परब्रह्म से जड़ चेतनात्मक सब सृष्टि उत्पन्न हुई, किन्तु कपिल के सांख्यानुसार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति से जड़—चेतनात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई। अब इसके आगे ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो ब्रह्म अक्रिय है, उस में विकार उत्पन्न ही कैसे होते हैं ? अथवा जब कि प्रकृति और पुरुष का सान्निध्य सदैव ही है, तब भी सृष्टि कैसे उत्पन्न होनी चाहिये। तत्वज्ञान के इतिहास में यह प्रश्न अत्यन्त कठिन है। एक ग्रन्थकार के कथनानुसार इस प्रश्न ने सब तत्वज्ञानियों को—सम्पूर्ण दार्शनिकों को कठिनाई में डाल रक्खा है। जो लोग ज्ञान सम्पन्न चेतन परमेश्वर।

को मानते हैं, अथवा जो लोग केवल जड़ स्वभाव प्रकृति को मानते हैं, उन दोनों के लिये भी यह प्रश्न समान ही कठिन है। नियोप्लेटोनिस्ट (नवीन प्लेटो मतवादी) यह उत्तर देते हैं कि—

"यद्यपि परमेश्वर निष्क्रिय और निर्विकार है, तथापि उसके आस-पास एक क्रियामंडल इस भांति घूमता है, जैसे प्रभा मंडल सूर्य बिम्ब के आस पास घूमता रहता है। सूर्य यद्यपि स्थिर है, तो भी उसके आस पास प्रभा का चक्र बराबर घूमता रहता है। सभी पूर्ण वस्तुओं से इसी प्रकार प्रभा मण्डल का प्रवाह बराबर बाहर निकलता रहता है।" इस प्रकार निष्क्रिय परमेश्वर से सृष्टि का प्रवाह सदैव जारी रहेगा। ग्रीस देश के अणुसिद्धान्तवादी ल्यसिपिस और डिमाटक्रिस का कथन है कि जगत का कारण परमाणु हैं। यह परमाणु कभी स्थिर नहीं रहते हैं। गति उसका स्वाभाविक धर्म है और वह अनादि तथा अनन्त है।

उसके मतानुसार जगत सदैव ऐसे ही उत्पन्न होता रहेगा और ऐसे ही नाश होता रहेगा। परमाणुओं की गति चूंकि कभी नष्ट नहीं होती, अतएव यह उत्पत्ति विनाश का क्रम कभी थम नहीं सकता। अच्छा, अब इन निरीश्वरवादियों का मत छोड़कर हम इसका विचार करते हैं कि, ईश्वर का अस्तित्व मानने वाले भारतीय आर्य दार्शनिकों ने इस विषय में क्या कहा है? उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि "आत्मैव इदमग्र आसीत् सोमन्यत बहुस्याम प्रजायेति।" अर्थात् "पहले केवल परब्रह्म ही था। उस के मन में आया कि मैं अनेक होऊं, मैं प्रजा उत्पन्न करूं।" निष्क्रिय परमात्मा को पहले इच्छा उत्पन्न हुई और उस इच्छा के कारण उसने जगत उत्पन्न किया। वेदान्त तत्वज्ञान में यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। वेदान्त सूत्रों में बादरायण ने "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" यह एक सूत्र रक्खा है। जैसे लोगों

में कुछ काम न होने पर मनुष्य अपने मनोरंजन के लिये केवल खेल खेलता है, उसी प्रकार परमात्मा लीला से जगत का खेल खेलता है। यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की भांति ही संतोष जनक नहीं है। अर्थात् परमेश्वर की इच्छा की कल्पना सर्वथैव स्वीकार होने योग्य नहीं है। परमेश्वर यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और दयायुक्त है, तो लीला शब्द उसके लिये ठीक नहीं लगता। यह बात सयुक्तिक नहीं जान पड़ती कि, परमेश्वर साधारण मनुष्य की तरह खेल खेलता है। इसके सिवा परमेश्वर की करनी में ऐसा क्रूरतायुक्त व्यवहार न होना चाहिये कि एक बार खेल फैलाकर फिर उसे बिगाड़ डाले। महाभारत में भिन्न २ जगह ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्राय: उत्पत्ति और संहारका क्रम किसी न किसी नियम और काल से ही होता रहता है।

—महाभारत मीमांसा।

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी

अनेक विद्वानों का यह मत है कि एक समय ऐसा था जबकि यह पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि कुछ भी नहीं था अपितु सम्पूर्ण संसार परमाणु रूप था, पुनः एक समय विशेष में ईश्वर ने उन परमाणुओं को एकत्रित करके जगत को बना दिया। यह जगत किस समय बना इस विषय में भिन्न २ मान्यतायें हैं, कोई कहता है कि इसको बने पांच हजार वर्ष हुये तथा कोई कहता है कुछ लाख वर्ष हो चुके परन्तु इन मान्यताओं को आज पठित संसार मानने के लिये तैयार नहीं है इसलिये इन पर विचार करना समय नष्ट करना है। आर्यसमाज कहता है कि इस संसार को बने १ अरब ९७ करोड़ वर्ष के करीब हो चुके हैं। वह अपनी पुष्टि में एक प्रमाण भी देता है उन्हीं प्रमाणों को श्री स्वामी

दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में उद्धृत किया है। यथा—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तान्निबोधतः।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणांतु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशाश्च तथा विधः॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥
यदेतद् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादश साहस्रं देवानां युग मुच्यते॥
दैविकानां तु साहस्रं युगानां परि संख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥

इत्यादि (मनुस्मृति अ० १)

इनका अभिप्राय यह है कि चार हजार वर्ष का कृतयुग (सतयुग) होता है और तीन हजार वर्ष का त्रेतायुग तथा दो हजार वर्ष का द्वापर एवं एक हजार वर्ष का कलयुग। इन सब के सन्ध्यांशों के २००० वर्ष मिलाने से १२००० वर्षों का एक चतुर्युग होता है। परन्तु ये वर्ष मनुष्यों के वर्ष नहीं अपितु देवों के वर्ष हैं जो कि हमारे से ३६० गुणा अधिक होते हैं इस लिये चतुर्युग का मान हुआ ४३२०००० इसी प्रकार ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है तथा १४ मन्वन्तर एक सृष्टि के होते हैं एवं इतना ही काल प्रलय का भी होता है अर्थात् चार अरब ३२ करोड़ वर्ष की सृष्टि होती है और उतने ही काल की प्रलय होती है। वर्तमान सृष्टि के ६ मन्वन्तर तो बीत चुके तथा सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियां भी बीत चुकी अब २८ वीं चतुर्युगी बीत रही है। इस हिसाब से सृष्टि की उत्पत्ति को हुये आजतक १, ९७,

२९, ४९, ०२३ सौर वर्ष हुये हैं। इस में कल्प की सन्धि भी गिनी गई है। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका की गणना अशुद्ध है। सूर्य सिद्धान्त आदि आधुनिक ज्योतिषशास्त्रों और नवीनपुराणों में भी इसी मत को स्वीकार किया है।

इन प्रमाणों पर विचार

इन प्रमाणों पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है।

(१) ऐतिहासिक दृष्टि से। (२) ज्योतिः शास्त्र की दृष्टि से।

अगर हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो स्वदेशी तथा विदेशी सभी सामयिक ऐतिहासिक विद्वान इस में एक मत हैं कि यह सतयुग आदि की वर्तमान मान्यता अत्यंत आधुनिक है। प्राचीन ग्रन्थों में तथा खुदाई आदि में इस का किसी स्थान पर उल्लेख नहीं मिलता।

(१) गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० जयचन्द जी ने भारतीय इतिहास की रूप रेखा में इसी मत की पुष्टि में अनेक युक्तियां दी हैं।

(२) शिवशंकर काव्यतीर्थ जो कि आर्यसमाज के सर्वमान्य विद्वान थे, उन्हों ने भी 'वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है' नामक पुस्तक में प्रमाण दिये हैं। इन के अतिरिक्त पं० गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने एक ग्रन्थ युगपरिवर्तन नाम से ही लिखा है उस में विद्वान लेखक ने, रावर्ट सिवेल, मैक्समूलर, वेवर आदि पाश्चात्य विद्वानों का विस्तार पूर्वक मत संग्रह किया है।

खुदाई में सब से पुराना लेख जिस में कलियुग का संकेत है राना पुलिकिसैन द्वितीय का है। यह चालुक्य का है, जो कि ई० सन् ६३४-३५ का है।

इस से पूर्व के किसी भी लेख में इन युगों का कहीं भी पता

नहीं लगता। इस लिये खुदाई के प्रमाणों से तो इस को प्राचीन कहा नहीं जा सकता। अब रह गया ग्रन्थों का प्रमाण, पुस्तकों में सब से प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है, इस में युग शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है इस लिये हम भी प्रथम ऋग्वेद में आये हुये युग आदि शब्दों पर विचार करते हैं

ऋग्वेद मण्डल १० सू० ९७ औषधी सूक्त है उसका प्रथम मंत्र

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्य स्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥

इस मन्त्र में आये हुये (त्रियुगं) शब्द से कई विद्वानों ने सत्य युग आदि अर्थ निकालने का प्रयास किया है। पं० आर्यमुनि जी ने वेद काल का इतिहास, नामक पुस्तक में लिखा है कि यहां त्रेता, द्वापर, तथा कलियुग को न्यून कथन कर के इस प्रथम (सत्य) को प्रधान सर्वोपरि माना है। आगे आप लिखते हैं कि यह वह समय था जब कि आर्य जाति तिब्बत में निवास करती थी। पं० रामगोविन्द जी वेदान्त शास्त्री ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में लिखा है कि तीन युगों (सत्य त्रेता और द्वापर वा बसन्त वर्षा शरद्) में जो औषधियां प्राचीन देवों ने बनाई हैं। यही मन्त्र यजुर्वेद अ० १२ में भी आया है श्री स्वामी जी महाराज ने भी वहां युग शब्द के अर्थ सत्ययुगादि तथा वर्ष भी किये हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी लिखा है।

इन भाष्यों की समीक्षा

इस सूक्त में २३ मन्त्र हैं, उन सब में प्राय औषधी से रोग दूर करने की प्रार्थना की गई है। यथा दूसरे ही मन्त्र में लिखा है कि हे मातृ रूप औषधियों तुम्हारे जन्म असीम हैं और तुम्हारे

प्ररोहण अपरिमित हैं तुम सौ कर्म्मों वाली हो। तुम मुझे आरोग्य प्रदान करो (मे अगदं कृत)। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि कोई रोगी औषधी को सन्मुख देख कर अथवा रख कर उस से प्रार्थना कर रहा है। फिर कैसे माना जावे कि कोई व्यक्ति सत्ययुग में तीन युग पहले अर्थात लाखों वर्ष पहले उत्पन्न हुई औषधी से प्रार्थना कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करे भी तो पागल प्रलाप के सिवा क्या समझा जायगा। बहुत क्या विवादास्पद प्रथम मंत्र में ही लिखा है कि इन पीले रंग की औषधियों के १०७ स्थान मैं जानता हूँ। बस स्पष्ट है कि ये औषधियां उसी समय विद्यमान थीं न कि लाखों वर्ष पहले, अतः इस से वर्तमान युगों की कल्पना करना तो नितान्त भूल है। अब रह गया यह प्रश्न कि यहाँ युग शब्द के क्या अर्थ हैं ?

युग शब्द का वैदिक अर्थ

युग शब्द वेदों में अनेक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

१—(ऋतु) यजुर्वेद के भाष्य में इसी प्रथम मन्त्र का भाष्य करते हुये युग शब्द का अर्थ तीन ऋतुवें उव्वट, महीधर, ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० जयदेव जी आदि सभी विद्वानों ने ऋतु किया है, तथा च ऋग्वेदालोचन में पं० नरदेव जी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

२—(मास) दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।

(ऋ० मं० १ सू० १२५।८)

यहां शिवशंकर जी काव्य तीर्थ वैदिकइतिहासार्थनिर्णय के पृष्ठ १७६ में युगके अर्थ मास महीने के करते हैं। अन्य विद्वानों ने भी कई स्थानों पर ऐसा अर्थ किया है।

३—(पक्ष) यजुर्वेद अ० १२ मन्त्र १११ के भाष्य में महीधर आदि सभी भाष्यकारों ने युग का अर्थ पक्ष (पर्व) पूर्णिमा अमावास्या आदि किया है।

४—(युगल) जोड़ा, दो। उपरोक्त मन्त्र के भाष्य में ही पं० जयदेव जी ने युग का अर्थ जोड़ा किया है।

५—(चार) चार की संख्या अर्थ भी इस का प्रसिद्ध ही है।

तथा च यजुर्वेद अ० २७ मन्त्र ४५ के भाष्य में सभी विद्वानों ने ५ वर्षों का युग माना है।

६—(वर्ष) एक वर्ष, विश्वादिग्पद मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द जी ने युग का अर्थ एक वर्ष भी किया है।

७—(यज्ञ) अथर्ववेद कां० २० सू० १०७ मं० १५ (युगानि वितन्वते) का अर्थ सभी विद्वानों ने यज्ञ किया है अर्थात् यज्ञों को फैलाते हैं।

८—(दिन) युगे युगे नव्यं घोषादमर्त्यम्।

अ० कां० २० सू० ६७।२

अर्थात् सोमदाता का आश्चर्यकर्म दिन प्रति दिन नया हो।

९—(जुवा) बैलों पर रखने का जुवा (खे युगस्य)

अ० कां० १४।१।४१

यहां सबों ने युग का अर्थ जुवा किया है। इत्यादि।

अर्थात् दिन, पक्ष, मास, ऋतु, (२ मास या ३ मास) वर्ष, चार, वर्ष पांच वर्ष, युगल (जोड़ा) यज्ञ, तथा जुवा आदि अर्थों में ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है। जब कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी वर्तमान युगों की कल्पना को स्थान नहीं है तो युग शब्द आने मात्र से सत्य युग आदि अर्थ करना अर्थ का अनर्थ करना है। अतः मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है—

या ओषधीः त्रियुगं पुरा पूर्वा जाता

अर्थात् जो ओषधी प्रथम तीन मास तक पक कर पूर्ण उत्पन्न हुई है। (देवेभ्यः) वह ओषधी वैद्यों के लिये उपयुक्त है, उस का रंग बभ्रु गहरा पीला होता है ऐसा मैं जानता हूं, वह अनेक स्थानों पर प्राप्त हो सकती है।

अतः ऋग्वेद के विवादास्पद मन्त्र से सतयुग आदि की कल्पना निराधार केवल कल्पनामात्र ही है। इस वेद में से अन्य कोई मन्त्र किसी ने इस विषय में उपस्थित नहीं किया।

यजुर्वेदः—

हां ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में श्री स्वामी जी महाराज ने एक यजुर्वेद का प्रमाण उपस्थित किया है उस पर विचार अवश्य करना है।

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि। यजु० १५।६५

श्री स्वामी दयानन्द जी ने मन्त्र का कुछ भाग लिख कर इस का अर्थ इस प्रकार किया है:—हे परमेश्वर! आप इस हजार चतुर्युगी के दिन और रात्री को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो। श्री स्वामी जी महाराज ने जो अधूरा मन्त्र लिखा है उस में न तो युग शब्द का कहीं निशान है और न चतुर्युगी का ही। हां सहस्र शब्द अवश्य आया है यदि सहस्र शब्द के आने-मात्र से सहस्र चतुर्युगी का अर्थ होता है ऐसा नियम किसी ग्रन्थ में हो तो वह ग्रन्थ हमारे देखने में तो आज तक नहीं आया है। दूसरी बात, इस में परमेश्वर शब्द भी नहीं है, पुनः परमेश्वर अर्थ कौनसी प्रक्रिया से किया गया है यह भी हमारे जैसा अल्पज्ञ नहीं समझ सकता। आगे चल कर प्रमाण शब्द का अर्थ निर्माण

किया गया है यह भी एक विचित्र अर्थ है। सब से बड़ी बात तो यह है कि "करता है" इस क्रिया की कल्पना किस आधार पर की गई है यह भी विचारणीय है। क्या इस प्रकार के अर्थ अथवा अध्याहार करने का अन्य किसी को भी अधिकार है यदि हां तब तो बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा, यदि नहीं तो ऐसा क्यों है? श्री स्वामी जी महाराज ने शतपथ का एक प्रमाण देने की भी दया की है।

"सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि" शत० कां० ७ ब्रा० २ कं० १३।

बहुत कुछ ध्यान पूर्वक दीर्घकाल तक विचार करने पर भी हम यह न समझ सके कि यह प्रमाण क्यों दिया गया है। बहुत संभव है किसी प्रतिपक्षी की ओर से यह प्रमाण स्वामी जी ने लिखा हो तथा इस का जो उत्तर स्वामी जी ने लिखा हो वह आर्य भाइयों की कृपा से छपना रह गया हो। कुछ भी हो इस प्रमाण के लिखे जाने से तो स्वामी जी के अर्थों का सर्वथा खण्डन हो गया। क्यों कि इस में "दातासि" यह क्रिया स्पष्ट है। अब इस ब्राह्मण के अनुसार मन्त्र के अर्थ हुये कि तू सब कुछ देने वाला है।

अब यह देने वाला कौन है यह विवादास्पद है। यद्यपि इस विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि यह प्रकरण नहीं है फिर भी हम इस पर कुछ विचार करते हैं ताकि विषय बिल्कुल सुस्पष्ट हो जाय। यह पूरा मन्त्र निम्न प्रकार है:—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि।
सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसिसहस्रायत्वा यजु० १५ ६५

इसका शब्दार्थ है कि तू सब का सहस्र का अर्थात् प्रमाण है, तथा सब का प्रतिमान (प्रतिनिधि) है तथा च सब का तराजू है तू सब का पूज्य है सब के लिये तेरे को।

इस मन्त्र में जो "त्वा" आदि शब्द आये हैं उस से ईश्वर की कल्पना का निराकरण हो जाता है। क्यों कि ईश्वर न तो सब का प्रतिनिधि ही है और न तराजू। यह सब कुछ होने पर भी (त्वा) तेरा, इस शब्द का ईश्वर विषयक स्वामी जी के अर्थ में किस प्रकार घटित किया जायेगा। वास्तव में तो यहां अग्नि तथा सूर्य का वर्णन है यह बात इस अध्याय के पाठ से सहज ही अवगत हो जाती है, इसी अध्याय के मन्त्र ५२ में आया है।

"अयमग्नि वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योतताम्।"

अर्थात् यह अग्नि वीरवर है, तथा च वयस (अन्न का धारण करने वाला अथवा देने वाला है। एवं (सहस्रियः, अर्थात् सब का पूज्य है अथवा सहस्र वाला है तथा च इसी अध्यायके मन्त्र २१ में लिखा है कि—

अयमग्नि सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पति।

अर्थात् यह अग्नि शत, सहस्र, अन्नों के स्वामी हैं।

मन्त्र ५२ में तो सहस्रियः यह अग्नि का विशेषण है जिस से स्पष्ट है कि यहां सहस्र के अर्थ हजार चतुर्युग किसी प्रकार नहीं लिये जा सकते मन्त्र २१ में 'सहस्र और शत' यह अन्न का विशेषण है। बस मन्त्र ६५ में भी सहस्र शब्द के अर्थ अन्न के हो हैं अन्न नाम हवी का भी है इस लिये यहां त्वा तेरे को यह शब्द पड़ा है जिस का अर्थ है अन्न के लिये अथवा हवि के लिये तुझ को प्रज्वलित करता हूं। यदि यह अर्थ न कर के भी स्वामी जी कृत सहस्र शब्द के अर्थ स्वीकार किये जावें तो हजार चतुर्युगों के लिये ईश्वर को क्या किया जावेगा, संभव है इतने समय तक ईश्वर को आज्ञा दी जाती हो कि आप इतने समय तक अवश्य ही सृष्टि उत्पन्न करें।

श्री स्वामी जी ने ही जो अर्थ इस मन्त्र का स्वकीय भाष्य में किया है हम उसी को उपस्थित करते हैं।

पदार्थः—हे विद्वान पुरुष! विदुषी स्त्री वा जिस कारण तू सहस्रस्य असंख्यात पदार्थों से युक्त जगत के (प्रमाण यथार्थ, ज्ञान के तुल्य है। असंख्य विशेष पदार्थों के तोलन साधन के तुल्य हैं। असंख्य स्थूल वस्तुओं के तोलने की तुला के समान हैं। और असंख्य पदार्थ और विद्याओं से युक्त है। इस कारण असंख्यात प्रयोजनों के लिये तुझ को परमात्मा व्यवहारों में स्थित करे।

क्या अब भी कोई पक्ष पाती यह कहने का साहस कर सकता है कि यहां युगों का ही वर्णन है। इतना ही नहीं अपितु श्री स्वामी जी महाराज ने इस मन्त्र के भावार्थ में इस को बिलकुल ही स्पष्ट कर दिया है। यथा—

"इस मन्त्र मे परमेष्ठी, सादयतु, इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है, तीन साधनों से मनुष्य के व्यवहार सिद्ध होते हैं। (१) यथार्थ विज्ञान (२) पदार्थ तोलने के लिये तोल के साधन बाट और (३) तराजू आदि।" फिर भी भाष्य भूमिका में यह मन्त्र किस प्रकार युगों की पुष्टि में लिखा गया यह अवश्य कुछ रहस्यमय घटना है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद भाष्यकार पं० क्षेमकरणदास जी ने अथर्ववेद कां० ८ सू० २।२१ को इसी प्रकरण में लगाया है, तथा वैदिक सम्पत्ति (जिस का प्रचार आर्यसमाज में विशेष है तथा सभी आर्य विद्वानों ने जिस की प्रशंसा करने में अपना गौरव समझा है) में भी यही मंत्र लिख कर सृष्टि की आयु निकाली है। मन्त्र निम्नप्रकार है:—

शतं ते युतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥ २१॥

उपरोक्त आर्य विद्वान तथा अन्य भी इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "अंकानां वामतो गति" के अनुसार ४३२ के अंक लिख कर उन पर सौ की तीन बिन्दु तथा अयुत दस हज़ार की ४ बिन्दु रखने से सृष्टि की आयु निकलती है। बस इस लिये इस मन्त्र से सृष्टि की आयु ४३२००००००० सिद्ध होगई। मुसलमानों आदि से शास्त्रार्थों में भी आर्य विद्वान इस प्रमाण को दिया करते हैं तथा कहा करते हैं कि जिसने यह जगत रचा है उसी ने इसकी आयु भी निश्चित की है।

इस पर विचार—

अब हम इस सूक्त को तथा इस मन्त्र को देखते हैं और उपरोक्त अर्थ को पढ़ते हैं तो हमें बड़ा ही दुःख होता है। भारतवर्ष के दुर्भाग्य का कारण श्री स्वामी दयानन्द जी ने ही विद्वानों का पक्षपात बतलाया है, उस का ज्वलन्त उदाहरण यहां उपलब्ध होता है। हम इन भाइयों से इतना ही जानना चाहते हैं कि इस मन्त्र में (कृणमः) यह जो बहु वचनान्त क्रिया है उस का कर्ता कौन है, यदि ईश्वर है तो क्या ईश्वर भी बहुत से हैं। तथा च इस में (ते) यह शब्द किस के लिये आया है, और आगे इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में जो यह कहा है कि इन्द्र, अग्नि, सब देव क्रोध न करते हुये हमारे इस वचन को स्वीकार करें। क्या यह ईश्वर इन देवों से प्रार्थना कर रहा है और क्या ईश्वर इन देवों के क्रोध से भयभीत हो रहा है। क्या कहें वास्तव में तो इन के सब ही सिद्धान्त ही निराधार हैं उन की पुष्टि के लिये ये लोग इसी प्रकार के घृणित प्रयत्न किया करते हैं।

इस सूक्त का विनियोग बालक के नाम करण संस्कार में है, और बालक की आयु वृद्धि के लिये इस मन्त्र में आशीर्वाद है। हम विशेष कुछ न लिख कर विवादास्पद मन्त्र से पूर्व के कुछ

मंत्र तथा पश्चात् के मन्त्र लिख कर उस के अर्थ लिख देते हैं जिस से पाठक भली प्रकार जान सकें।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

अन्हे च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि।
अरायेभ्यो जिघत्सभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

शतं ते ऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानः ॥ २१ ॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो कुछ तू खाता है जो कुछ तू पीता है, अनाज जो कि पृथ्वी का रस है जो खाद्य पदार्थ हैं तथा जो अखाद्य हैं उन सब अन्नों को तेरे लिये विष रहित करता हूँ। १९ ॥ तुझे दिन और रात दोनों को सौंपता हूँ, मेरे इस (बालक) को उन अरायों (भूखों) से बचाओ जो इसे खाना चाहते हैं। २० ॥ अब याज्ञिक आशीर्वाद देते हैं। हे बालक! तेरी १०० वर्ष की पूर्ण आयु को हम द्विगुना त्रिगुना तथा चौगुना करते हैं (अर्थात् तू चार सौ वर्ष तक जी, हम यह आशीर्वाद देते हैं) इन्द्र अग्नि आदि सब देवता क्रोध न करते हुये (शान्त भाव से) हमारी इस शुभ कामना को स्वीकार करें। २१ ॥

हम तुझे शरद, हेमन्त, वसन्त, तथा ग्रीष्म को सौंपते हैं वर्षा यें जिन में औषधियें बढ़ती हैं तेरे लिये सुखकारी हों। २२ ॥

उपरोक्त मन्त्र इतने सरल हैं कि प्रत्येक संस्कृतज्ञ सुगमता से समझ सकता है। मन्त्र १८ में खाद्य अन्नों का नाम भी (चावल, जौ) बतला दिया है। सब से बड़े दुःख की बात तो यह

है कि मन्त्र २३ तथा २४ में स्पष्ट (मा विभेः) अर्थात् भय मत कर, तू मरेगा नहीं ऐसा लिखा है। कौन विचार शील ऐसा होगा जो उपरोक्त मन्त्रों से सृष्टि की आयु का वर्णन समझेगा। हमने जो अर्थ इन मन्त्रों के दिये हैं प्रायः सभी भाष्यकारों ने यही अर्थ किये हैं, परन्तु मन्त्र २१ में आये (अयुतं) के अर्थ दस हजार वर्ष तथा युगे के अर्थ चार किये हैं, अर्थात् तू जुग २ जी ऐसा अर्थ भी किया है। हमारी सम्मति में ये सब अर्थ ठीक नहीं हैं क्योंकि (अयुत) शब्द पूर्ण अर्थ में इसी वेद में आया है। यथा

अयुतोऽहमयुतो म आत्मा युतं मे चक्षु रयुतं श्रोत्रम्।

अथर्ववेद कां० १९ सू० ५१ मं० १

अर्थात् मैं अयुत (पूर्ण) हूं मेरी आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि सब पूर्ण हैं। यहां अयुत शब्द के अन्य अर्थ हो ही नहीं सकते, अतः सभी भाष्यकारों ने यहां अयुत के अर्थ पूर्ण के किये है। बस, जब अयुत के अर्थ पूर्ण के हैं तो यहां भी इस शब्द के अर्थ पूर्ण ही हैं। क्योंकि मनुष्य की पूर्ण आयु १०० वर्ष की मानना सर्वतंत्र वैदिक सिद्धान्त है। तथा अधिक से अधिक ४०० वर्ष की आयु का परिमाण भी श्री स्वामी जी महाराज ने स्वयं स्वीकार किया है (रह गया युग शब्द का अर्थ सो तो यहां 'द्वे') शब्द का 'युगे' ऐसा विशेषणार्थ में युग शब्द का प्रयोग हुआ है। वास्तव में तो यहां (युगे) यह पद पाद पूर्ति के लिये रक्खा गया है। अस्तु, जो कुछ भी हो उपरोक्त वैदिक प्रमाणाभास जो इस विषय में दिये गये हैं उन की निःसारता प्रकट हो चुकी तथा इन प्रमाणों के अलावा किसी अन्य प्रमाण को देने का किसी भी विद्वान ने साहस नहीं किया अतः यह सिद्ध है कि वेदों में इस सृष्टि उत्पत्ति की वर्तमान मान्यता का कहीं वर्णन नहीं है।

वेदों में कलि आदि शब्द

वैदिक सम्मय में कलि, आदि शब्दों का व्यवहार द्यूत के पासों के लिये हुआ है। वैदिक समय में जूवा बड़े जोरों से खेला जाता था तथा गन्धर्व जाति की स्त्रियें इस विषय में दक्ष हुआ करती था, धनाढ्य जुवारी लोग इनको जुवा खेलने के लिये अपने पास रखते थे। बहेड़े की लकड़ी के बने हुये ५२ पासों से यह खेला जाता था, एक से पांच तक के पासे 'अयन' कहलाते थे, उन में पांचवां पासा कलि कहलाता था अथवा चार का 'कृत' एवं पांच का कलि कहलाता था। तैत्तरीय ब्रा० १।५।११।१

जिस के पास कृत अर्थात् चार का अयन आता था उसी की विजय होती थी और पांच वाले की हार। इसी लिये ऋग्वेद मण्डल, १ सू० ८१८ में कृत का अयन पाने वाले जुवारी से डरने का उपदेश दिया गया है। तथा च निरुक्तकार यास्क ने भी यही सलाह दी है। नि० ३।१६ इन जुओं में बभ्रू नाम का जुवा सब से भयानक होता था। यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र १८ में:—

अक्षराजाय कितवम् कृताया दिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनम्
द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभा स्थाणुम्।

इस का अर्थ है कि जुवे के लिये जुवारी को, अब ये जुवारी कितने प्रकार के होते थे यह आगे बतलाया है। सब से बढ़िया जुवारी का नाम 'कितव' था यह कृत का अयन जीतने वाला बड़ा चालाक होता था। उस से नीचे दर्जे के जुवारी का नाम 'नवदर्शी' और उस से छोटे का नाम 'कल्पी' यह त्रेता चिन्ह वाले पासे का लाता था तथा उस से छोटे को 'अधि कल्पी' कहते थे। इस जुवे का वर्णन अथर्ववेद कां० ४ सू० ३८ तथा कां० ७ सू० ५२—१४४ में देखने योग्य है। जब इस जुवे ने भयानक रूप धारण कर लिया, तब इसके नियमों का आविष्कार हुआ, परन्तु इतने पर भी इस की वृद्धि न रुकी तो इस का निषेध किया गया।

"अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित्कृषस्व" (ऋग्वेद)।

जब इस का भी कुछ प्रभाव न हुआ तो इसे को पाप का रूप दिया गया, तथा इस के लिये दण्ड का विधान हुआ। अस्तु, प्रकृत विषय तो इतना ही है कि वेद में कलि आदि शब्दों का वर्तमान कलि आदि के अर्थों में कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। इस लिये वर्तमान युगों की कल्पना नितान्त नवीन तथा स्वकपोल कल्पित है इस में कुछ भी सन्देह नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थ और युग

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कलि आदि शब्दों को देखते हैं, अतः वहां इन का क्या अर्थ है इस पर विचार करना भी आवश्यक है।

कलि: शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ४॥
ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५

यहां एक रोहित नामक राजा को कोई ऋषि उपदेश देता है कि

"नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम:।"

अर्थात् हे रोहित हमने ऐसा सुना है कि आलसी के लिये लक्ष्मी नहीं है। आगे कहा है कि आलस्य में पड़े रहना (सोना) कलि है और उठना अर्थात् परिश्रम का विचार करना द्वापर है, एवं उठ बैठना उस विचार के अनुसार कार्य करने को उद्यत होना अथवा नियम आदि बनाना त्रेता युग है और जब इस के अनुकूल पूरे परिश्रम के साथ आचरण होता है तो वही कृत कहलाता है। इसी भाव को मनुस्मृतिकार ने स्पष्ट किया है —

कृतं त्रेता युगं चैव द्वापरं कलि रेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युग मुच्यते॥ अ० ९ ३०१
कलि प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्म स्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

अर्थात् कृत (सत्ययुग) त्रेता आदि युग सब राजा के आचरणों के नाम हैं 'वास्तव में राजा ही का नाम युग है।' जब वह (राजा) आलसी रहता है अथवा कुकर्मों में फंस कर प्रजा की रक्षादि नहीं करता तो वह कलियुग है अर्थात् उस राज में कलियुग कहा जाता है। जब वह जागता है तो द्वापर हो जाता है एवं जब कुछ क्रियाशील होता है तब त्रेता कहलाता है तथा जब आलस्य को छोड़ कर अपना कार्य करता है तो वह कृत युग कहलाता है। मनुस्मृतिकार ने "राजाहि युगमुच्यते" अर्थात् राजा को ही युग कहते हैं, ऐसा कह कर सम्पूर्ण विवाद को मिटा दिया है क्यों कि यहां 'हि' शब्द अन्य अर्थों के निवारणार्थ प्रयुक्त हुआ है। यही भाव ऐतरेय ब्राह्मण के हैं। अब यह बात सिद्ध हो गई कि ब्राह्मण काल में कृत युग आदि किसी समय विशेष का नाम नहीं था, अपितु राजाके नाम थे। यहां एक बात विचारणीय है कि कलि के लिये बुरे भाव अथवा इसे बुरा समझा जाना और कृत को अच्छा समझने का भाव उस समय उत्पन्न होगया था, इस का आधार क्या है?

इस का उत्तर स्पष्ट है कि वैदिक काल में जूवे के पासों का नाम कृत आदि था जैसा कि हम दिखला चुके हैं। उन पासों में कृत के आने से विजय होती थी और कलि के आने से हार। अतः स्वभावतः कलि शब्द के अर्थ खराब और कृत शब्द के अर्थ सुन्दर शुभ प्रचलित हो गये थे, इसी भावको यहां दर्शाया है। तथा च तैतरीय ब्रा० में आया है कि "ये वै पंचस्तोमाः कलिसः।" अर्थात् पांचवा स्तोम कलि है। "ये वै चत्वारः सोमा कृतं तत्।" चतुर्थ स्तोम कृत है। स्तोम नाम यज्ञ का प्रसिद्ध है। पूर्व समय में वर्ष में पांच यज्ञ ऋतुओं के अनुसार हुआ करते थे। छठी ऋतु में शीत अधिक होने के कारण कुछ भी कार्य नहीं होता था,

ऐसा कई विद्वानों का मत है। जो भी हो, परन्तु पांच यज्ञ होते थे, उन में जो बसन्त ऋतु में यज्ञ होता था उस का नाम कृत था, ग्रीष्म के यज्ञ का नाम त्रेता, वर्षा ऋतु के यज्ञ का नाम द्वापर शरद ऋतु के यज्ञ का नाम कलि एवं हेमन्त में जो यज्ञ होता था उस का नाम अभिभू था कई स्थानों पर कलि का नाम आस्कन्द और अभिभू भी मिलता है।

यथा—एष वाऽअयनमभि भूर्यत्कलि रेष हि सर्वानयान भि भवति। शतपथ ब्राह्मण कां० ५।४.४।६

अर्थात् यह अयन यज्ञ अभि भू है, जो कलि ही अभिभू है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपरोक्त अर्थों में ही इन शब्दों का प्रयोग हुआ है इस लिये यह सिद्ध है कि ब्राह्मण काल में भी वर्तमान युगों का प्रचार नहीं था। ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषद् काल है, परन्तु उन में भी हम इस युग प्रथा का अभाव ही देखते हैं। इसी प्रकार दर्शन शास्त्र तथा गृह्यसूत्र आदि की भी अवस्था है। (अपूर्ण)

महाभारत और युग

एषा द्वादश साहस्री युगाख्या परि कीर्तिता। एतत्सहस्र परयन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्। महाभारत, बन पर्व अ० १८८

अर्थात् बारह हजार वर्षों की युग संज्ञा है। ऐसे २ हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। चतुर्युग के बारह हजार वर्ष होते हैं यह कल्पना महाभारत काल ही में मिलती है। इस से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण काल के पश्चात् और महाभारत ग्रन्थ से पूर्व इन युगों की कल्पना हुई, परन्तु उस समय इन चारों युगों के १२ हजार वर्ष माने जाते थे। महाभारत मीमांसा में राय बहादुर चिन्तामणि जी ने मीमांसा में पृ० ४२६ से ४३१ तक विस्तार पूर्वक यह सिद्ध किया है कि उपरोक्त १२ हजार वर्षों का अभिप्राय दिव्य वर्षों से है। परन्तु खेद है कि आपने अपना

कल्पना का कोई दृढ़ आधार नहीं दिया। महाभारत में ही स्पष्ट लिखा है—

> कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा काल कारणम्।
> इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्॥
>
> शान्तिपर्व ७०।७९

भीष्म जी कहते हैं कि हे युधिष्ठर! राजा काल के आधीन है अथवा काल राजा के आधीन है; ऐसा संशय तेरे को न होना चाहिये क्यों कि राजा ही काल का कारण है। वह चाहे जब सतयुग और चाहे जब कलियुग कर सकता है। बस महाभारत और उसके पश्चात् भी भारतीय राजाओं के कारण ही कलियुग की कल्पना हुई और मुसलमानी काल में उसको दैव्य वर्षों का रूप देना पड़ा।

अब हम महाभारत की अन्तःसाक्षी भी देते हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध होजायगा कि उस समय बारह हजार मानवी युगों का चतुर्युग होता था।

> त्रयःत्रिंशत् सहस्राणि त्रयश्चैव शतानिच।
> त्रयःत्रिंशच्च देवानां सृष्टि संक्षेप लक्षणा॥
>
> महाभारत आदि पर्व १।४९

(३३३३३ $\frac{१}{३}$) ये देवों के वर्ष-सृष्टि का संक्षेप लक्षण है। अब यदि इनको ३६० से गुणा करें तो १२०००००० वर्ष होते हैं। तथाच—बारह हजार मानवीय वर्षों को यदि एक हजार से गुणा करें तो भी इतने ही वर्ष होते हैं। बस गीता के साथ संगति लग गई जैसा कि कहा है—

> सहस्र युग पर्यन्त महर्यद् ब्रह्मणो विदुः।

अर्थात् एक हजार युगों का ब्रह्म का दिन होता है। इन युगों

का मान मानवी वर्षों से ही है देवताओं के वर्षों से नहीं। यही बात मनुस्मृतिकार ने तथा निरुक्त में और महाभारतकार ने मानी है। अन्य भी एक बात विचारणीय है कि उपरोक्त किसी भी ग्रन्थ में दैव्य. शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जिससे इनको देवताओं के वर्ष माने जावें। पुनः क्यों हम इन ग्रन्थों का गला घोट कर कहलाते हैं कि नहीं तुम इनको दैव्य वर्ष ही कहो।

भागवत में युग

कृतं त्रेता द्वापरंच कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्॥
भा० स्कन्ध ३ अ० ११।१९

अर्थात् सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलि ये चारों युग दिव्य बारह वर्षों के हैं। आगे चल कर स्वयं ही इसको स्पष्ट करते हैं।

चत्वारि त्रीणिद्वेचैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानिच॥ २०॥

अर्थात् चार. तीन, दो, एक हजार और इनसे दुगुने (आठ सौ. छै सौ चार सौ; दो सौ) सैकड़ों को कृत, त्रेता द्वापर, कलि में यथा क्रम मिलाने से उपरोक्त दिव्य १२ वर्ष होते हैं। अर्थात् एक दिव्य वर्ष एक हजार मानवो वर्षों का होता है। अतः बारह हजार मानवी वर्षों का चतुर्युग ही भागवतकार को भी मान्य था, यह निश्चित है। यहां पर दिव्य बारह वर्षों का अर्थ १२००० ही है क्यों कि इसके बिना भागवत के श्लोक का कुछ भी अभिप्राय नहीं निकलता। यही भाव भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार पं० श्रीधर जी ने लिया है—
यथा (द्वादशभिर्वर्षैः सहस्रैः इति उत्तर श्लोक सामर्थ्यात् ज्ञातव्यम्।

अवधीयत इति, अवधानं सन्ध्या संध्याशंच तत्सहितम् ॥

अब यह बात निर्विवाद है कि वैदिक काल से लेकर भागवत रचना काल तक वर्तमान युगों के इतने विस्तृत लम्बे वर्ष नहीं माने जाते थे। वैदिक समय में तो इन युगों की कल्पना तक नहीं हुई थी। पुनः ऐसे प्रमाणाभासों के आधार पर सिद्ध किया गया सृष्टि उत्पत्ति का वर्तमान समय किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है।

ज्योतिःशास्त्र और युगमान

हम देख चुके कि वर्तमान युग पद्धति ऐतिहासिक दृष्टि से अतीव नवीन है अब हम ज्योतिः शास्त्र सम्बन्धी भी इस पर विचार करेंगे। वर्तमान समय में जितने भी ज्योतिः शास्त्र उपलब्ध हैं वे सब ईसवी सन् के पश्चात् के हैं। इन ग्रन्थों में भी सब से प्राचीन आर्य भट का आर्य भटीय ग्रन्थ प्राप्त है। आर्य भट का जन्म ४७६ ई० में हुआ था। इसके पश्चात् एक अन्य भी आर्य भट हो चुका है उसने 'आर्यसिद्धान्त' नामक ज्योतिः शास्त्र लिखा। वराह मिहिर ने सन् ५०५ ई० 'पंचसिद्धान्तिका' नामक ग्रन्थ इसी विषय पर लिखा है। तथाच सन् ६२८ ई० में ज्योतिष के मान्य विद्वान ने ब्रह्म गुप्तसिद्धान्त लिखा। तत् पश्चात् एक लल्ल विद्वान हुआ जिसने लल्ल सिद्धान्त नामक ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात् के अन्य ग्रन्थ भी हैं। वर्तमान सूर्य सिद्धान्त ईस्वी ६०० वर्ष के पश्चात् का है। अब हम को यह देखना है कि ये ग्रन्थ इस विषय में क्या सम्मति रखते हैं। सब से बड़ा प्रश्न जो इन ग्रन्थकारों के सम्मुख था वह था कलियुग आरम्भ का प्रश्न। कलियुग आरम्भ होते हुये तो किसी ने नहीं देखा पुनः कैसे जाना जावे कि अमुक दिन कलियुग आरम्भ हुआ था। इसीलिये विद्वानों में परस्पर मतभेद है।

'युग परिवर्तन' नामक ग्रन्थ में उन विद्वानों के नाम तथा उन के भेद निम्न लिखित बतलाये हैं।

कलियुग आरम्भ कब हुआ

शक पूर्व	११११६	वर्ष मदरासी विद्वान विलंडी अय्यर का मत।
,,	१३२२	,, रमेशचन्द्रदत्त तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान
,,	२०९९	,, मिश्र बन्धु कृत भारत का इतिहास।
,,	२५२६	,, राज तरंगिणी कल्हण
,,	३१७९	,, वर्तमान पंचागों के हिसाब से। तथाच लो० तिलक एवं ज्ञानकोष कर्ता केलकर आदि के मत से।
,,	५०००	,, कैलास वासी मोडक के मत से।
,,	५३०६	,, वेदान्त शास्त्री सं० विझाजी रघुनाथ लेले।

पाठक विचार सकते हैं कि ११०० की तथा ५३०० की संख्या में कितना अन्तर है। ४२०० वर्षों का अन्तर केवल कलियुग आरम्भ की गणना में हैं। यदि कृत आरम्भ का लेखा देखा जाये तो क्या अवस्था होगी इसका अनुमान वाचक वृन्द स्वयं ही लगा सकते हैं।

उधर तो दीक्षित जी जैसे सर्व मान्य विद्वान कलियुग आरंभ को मिथ्या कह रहे हैं, और इधर इस सिद्धान्त के परम रक्षक वैद्य जी महाराज ने कृत युग आरम्भ की कल्पना को ही असंभव सिद्ध कर दिया। न मालूम फिर भी इस मिथ्यावाद की पुष्टि में क्यों समय लगाया जाता है।

मन्वन्तर कल्पना

वर्तमान समय में यह कल्पना है कि ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है तथा सृष्टि में १४ मन्वन्तर होते हैं। इन मन्व-

न्तरों की कल्पना का क्या आधार है यह अभी तक किसी ने बतलाने की कृपा नहीं की। महाभारत मीमांसाकार वैद्य जी स्वयं लिखते हैं कि इन चौदह मनुओं की कल्पना महाभारत काल में थी या नहीं यह नहीं कह सकते। इस ओर के ज्योतिषियों की कल्पना है कि प्रत्येक मन्वन्तर में सन्धि काल रहता है। भिन्न २ युगों के संधि काल की भांति यह कल्पना की गई है। यदि वैद्यजी को कुछ सहारा मिलता तो अवश्य वे उसे उपस्थित करते। परन्तु यह शब्द ही नवीन है। प्राचीन साहित्य में इस शब्द का ही अभाव है ऐसी अवस्था में कोई क्या कर सकता है। सब से प्रथम मनुस्मृतिकार ने इस शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु उसमें १४ मन्वन्तरों की सृष्टि होती है ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है। बाद में पुराणकारों ने एवं आधुनिक ज्योतिषियों ने इस कल्पना का प्रादुर्भाव किया कि १४ मन्वन्तरों की एक सृष्टि होती है।

एक विकट समस्या

इस मन्वन्तर की कल्पना ने एक विकट समस्या उत्पन्न कर दी जिसका हल ये विद्वान किसी प्रकार न कर सके। इस समस्या को हल करने के लिये इन कल्प के कल्पकों ने अपनी विद्या एवं बुद्धि के खूब जोहर दिखलाये परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। वह समस्या गीता के निम्न श्लोक ने उपस्थित की है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

गीता अध्याय १०। ६

इस श्लोक में, सात ऋषि तथा चार मनु कहे गये हैं। अब यहां चार 'मनु' क्यों कहे गये हैं! यह एक बड़ी कठिन समस्या है।

क्यों कि एक सृष्टि में तो १४ मनु होते हैं तथा जब गीता बनी थी उस समय तक ७ मनु बीत चुके थे पुनः चार मनु कहने का क्या अर्थ है। इस समस्या को हल करने के लिये सभी विद्वानों ने प्रयत्न किया है। गीतारहस्य के पृ० ७५१ से ७५४ तक उन सम्पूर्ण मतों का दिग्दर्शन कराकर उनका खण्डन किया गया है और लोक मान्य जी ने इस श्लोक के विवादास्पद भाग के तीन भाग किये हैं। यथा महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारः, मनवस्तथा।

इसमें चत्वारः शब्द का पूर्वे से मेल करके मनवः को पृथक कर दिया तथा इसका अर्थ यह किया कि सात महर्षि, उनके पहले के चार, और मनु मेरे ही मानस अर्थात मन से निर्माण किये हुये भाव हैं कि जिनसे इस लोक में प्रजा हुई। परन्तु सप्त महर्षि कौनसे लिये जावें यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है क्यों कि पृथक २ मन्वन्तरों के प्रथक २ सप्तमहर्षि होते हैं। तथाच प्रत्येक मनु के दश पुत्र वंश कर्ता होते हैं।

अतः ऋषि हुये ९८ और वंश कर्ता १४० होते हैं, इन सब के प्रथक २ नाम पुराणों में आये हैं। अतः सप्त ऋषियों से यहां कौनसे ऋषि लिये जावें यही प्रश्न कठिन है। अब यह पूर्व चार क्या है इसके लिये बड़ी ही क्लिष्ट कल्पना की गई है और कहा है कि इनसे चारों से अभिप्राय बासुदेव, (आत्मा) संघर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) ये चार प्रथम उत्पन्न हो गये थे अतः यहां चार का भाव इन चारों से है।

ये सब कल्पनायें एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध करने के लिये की जा रही हैं। परन्तु अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि तिलक जी जैसे अपूर्व विद्वान से भी ऐसा परस्पर विरोधी लेख किस तरह लिखा गया, क्योंकि आपने स्वयं इसी ग्रन्थ के विश्व

की रचना और संहार नामक प्रकरण में इसका जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। यथा वेदान्त में भागवत धर्म में वर्णित जीव के उत्पत्ति विषयक उपर्युक्त मत का वासुदेव से संघर्षण, (जीव) प्रद्युम्न, (मन) अनिरुद्ध (अहंकार) आदि उत्पन्न होने का खण्डन करके कहा है कि यह मत वेद विरुद्ध है अतएव त्याज्य है।

गीता (१३।४, १५।७) में वेदान्त सूत्रों के इसी सिद्धान्त का अनुवाद किया गया है श्रीमद्भगवद् गीता भागवत-धर्म की इस कल्पना से सहमत नहीं है कि पहले वासुदेव से संघर्षण या जीव उत्पन्न हुआ। संघर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध का नाम तक गीता में नहीं पाया जाता। पाञ्चरात्र में बतलाये हुये भागवत-धर्म में तथा गीता-प्रतिपादित भागवत-धर्म में यही तो महत्व का भेद है। इस बात का उल्लेख यहां जान बूझ कर किया गया है। कोई यह न समझ ले कि सृष्टि उत्पत्ति क्रम विषयक अथवा जीव परमेश्वर स्वरूप विषयक भागवत आदि भक्ति सम्प्रदाय के मत भी गीता को मान्य है। गीतारहस्य पृ० १९५

आपके हृदय में भी यह धारणा थी कि यह लेख परस्पर विरुद्ध है। इसलिये आपने पृ० ७५४ पर उसका समाधान करने का यत्न किया है। आप कहते हैं कि यहां यह दिखलाया है कि ये चारों व्यूह एक ही परमेश्वर के भाव हैं। परन्तु क्या यह समाधान है? आपके पूर्व के लेख में स्पष्ट है कि भागवत-धर्म का सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम अवैदिक तथा गीता को अमान्य है। पुनः यहां उसी क्रम को स्वीकार कैसे किया गया है। यदि कहो कि स्वीकार नहीं किया तो क्या (सप्तमहर्षयःपूर्वे) श्लोक में इन चारों का खण्डन करने के लिये (पूर्वे चत्वारः) शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि ऐसा है तब तो धन्यवाद है क्योंकि पुनः मन्वन्तर आदि का स्वयं ही खण्डन होगया। बस जब गीताकार आपके कथना-

नुसार संघर्षण आदि की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता तो फिर उन्हीं को अपना भाव बतलाने के क्या अर्थ हो सकते हैं। बहुत विचार करने पर भी इस समाधान से हमारा समाधान न हो सका। अस्तु हम थोड़ी देर के लिये इसपर विवाद न भी करें, फिर भी क्या इन चार से भाव चार व्यूहों का सिद्ध हो सकता है ? हमारे विचार से तो यह असम्भव है। क्योंकि इस व्यूह में प्रथम व्यूह वासुदेव है जिसको आत्मा कहा गया वह वासुदेव है। जिसको कि अज, अनादि, परब्रह्मस्वरूप माना गया है। उसका पूर्व में उत्पन्न होना नहीं माना फिर वह कैसे पैदा हो सकता है। अतः यहां यदि भागवत सम्प्रदाय के चार व्यूहों का भाव पैदा होता तो तीन व्यूह उत्पन्न हुये ऐसा कहना चाहिये था। अतः चत्वारः के स्थान में त्रयः शब्द आना चाहिये था। शेष महारथियों का खण्डन तो स्वयं ही गीतारहस्य में किया गया है। पाठक देखना चाहें तो वहां देख लें। वैद्य जी की कल्पना में तो कुछ सार ही नहीं है क्योंकि उन्होंने जिन सावर्णि तथा सावर्ण्य मनु का सहारा लिया है वे तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुये, पुनः उनके लिये भूतकाल की क्रिया का इस श्लोक में किस प्रकार व्यवहार हो सकता था।

असल बात तो यह है कि यह कल्पना ही निराधार है. अतः किसी ने चार की कल्पना की तथा किसी ने १४ की एवं किसी ने असंख्यों की कल्पना कर दी। अब इन सब की संगति लगाने में व्यर्थ समय खोने के सिवा कुछ परिणाम थोड़े ही निकलता है। इसीलिये ज्योतिष के अपूर्व विद्वान दीक्षित जी ने लिखा है कि यह मन्वन्तरों की कल्पना धार्मिक है। इसलिये भारतीय ज्योतिषियों को इसे स्वीकार करना पड़ा। वास्तविक कल्प या युग की कल्पना के सदृश इसमें गणित की सुगमता नहीं है।

हम कहां तक कहें दीक्षित जी कितने मर्मस्पर्शी शब्द कह रहे हैं उन पर ध्यान देना चाहिये। यूरूप में भी एक समय ऐसा था जब कि बाईबिल के विरुद्ध सिद्धान्तों के निश्चित करने का किसी भी वैज्ञानिक को अधिकार नहीं था वही अवस्था यहां थी। जिस देश के वैज्ञानिकों को इस प्रकार की गुलामी में रहना पड़ता हो वह देश किसप्रकार उन्नति करसकताहै। दुःख है कि आर्य समाज जैसी संस्थायें भी इसी गुलामी की शिकार बनरही हैं। ज्योतिष का वास्तविक युग उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी है। यह हम आगे सप्रमाण लिखेंगे।

हम नहीं कहसकते कि महाभारत मीमांसाकार वैद्यजी जैसे योग्य विद्वान ने अपनी मीमांसा में क्यों बार २ कहाहै कि इन १४ मनुओं की कल्पना मनुस्मृति में है। मनुस्मृति में तो—

मन्वतराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एवच। १। ८०। अर्थात असंख्य मनु तथा सर्ग और संहार भी असंख्यहैं, इतना ही लिखाहै। मनु के टीकाकार कुल्लुक ने स्पष्ट लिखा है कि १४ मन्वन्तर पुराणों में गिने गयेहैं। परन्तु यहां असंख्य प्रलय आदि के अनन्त होने के भावसे लिखे हैं।

किसीभी भाव से लिखे हों यहां यह प्रकरण नहीं है यहां तो यह देखना है कि मनुस्मृति के समय में मन्वन्तरों की गणना १४ नहीं मानी जाती थी। आगे चलकर वैद्यजी ने कुछ वेद मन्त्रों के प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। यथा मनौ सवर्णौ, ६० मं० ८ सू ५१ बाल खिल्य सूक्त। यथा मनौ विवस्वति ,, ,,

इसी प्रकार मण्डल दस के ६२ वें सूक्त में भी सावर्ण्य मनु का उल्लेख है। इन प्रमाणों से आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि एक सृष्टि में एक से अधिक मनु होते हैं यह बात वेदों से ही सिद्ध है। परन्तु खेदहै कि इन मन्त्रों में आप के सिद्धान्त की

पुष्टि तो क्या अपितु उसका खण्डन अवश्य विद्यमान है। क्योंकि आपकी तथा पौराणिक कल्पना जिस का आप समर्थन करने चले हैं उसमें जो अबतक ७ मनु हो चुके हैं उनमें सावर्ण्य और सावर्णि नामके मनुओं का कहीं भी पता नहीं है। पुनः आपके मनुओं का वर्णन आपने कैसे निकाल लिया। हां यदि मनु शब्द आने से मन्वन्तर शब्द का बोध होता हो तब इस समय भी आप को मनु दत्त, आदि नामों के सैंकड़ों मनुष्य मिल जावेंगे, तो क्या आप इस का अभिप्राय यह निकालेंगे कि ये मनु हमारे ही मन्वन्तर की कल्पना की पुष्टि करते हैं। उपरोक्त मन्त्रों और सूक्तों को तो बात ही क्या है सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में आपकी इस कल्पना का आधार उपलब्ध नहीं होता। आप ही महा भारत मी० के पृ० ५७२ के आरम्भ में लिखते हैं कि "हाँ यह भी कहा जासकता है कि यह कल्पना सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में नहीं है।"

बस जब आप के कथनानुसार आपके कपोल कल्पित कथन का ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अभाव है तो मन्वन्तरों को कहां स्थान मिलना था। नास्ति मूलं कुतः शाखा

ब्रह्म की आयु

इस विषय में सब से अधिक महत्व पूर्ण विचारणीय बात ब्रह्म की आयु है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस पर किसी विद्वान की भी दृष्टि नहीं गई। वर्तमान युग कल्पना में कहा है कि चार अरब ३२ करोड़ वर्ष की सृष्टि तथा उतने ही समय की प्रलय होती है। यह सृष्टि ब्रह्म का एक दिन है तथा प्रलय ब्रह्म की रात्री है। इसी हिसाब से ब्रह्म की आयु १०० वर्ष की है।

इत्थं युग सहस्रेण भूत संहार कारकः।
कल्पोब्राह्ममह प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥

परमायुश्शतं तस्य तयाहोरात्र संख्यया ।
आयुषोऽर्धमितं तस्य शेष कल्पोऽयमादिमः ॥ इत्यादि ।

सूर्य सिद्धांत अधिकार १ श्लो० २० से २३ तक

अर्थात् ब्रह्म की आयु उन्हीं के दिनमान से १०० वर्ष की होती है। इस समय ब्रह्म की आधी आयु बीत चुकी। शेष आधी आयु का यह प्रथम कल्प है। इसके भी ६ मनु बीत चुके २७ वें के भी २७ महा युग बीत चुके हैं। इत्यादि।

अब प्रश्न यह है कि जिसकी आयु उसके हिसाब से ५० वर्ष बीत चुकी तथा आधी आयु से भी कम अब बाकी रही है यह ब्रह्म कौनसा है? क्या जिसको परमेश्वर कहते हैं वही ब्रह्म है अथवा अन्य कोई। यदि यही ईश्वर ब्रह्म है तो क्या जब १०० वर्ष पूरे हो जावेंगे उस समय वह मर जावेगा अथवा आराम करने लगेगा। एवं क्या यह परमेश्वर पचास वर्ष पूर्व नहीं था? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। जिनका समाधान क्या हो सकता है। यदि कहो कि यह ब्रह्म दूसरा है तो फिर विचार करना होगा कि किस को ईश्वर माना जावे। वास्तव में तो जितना भी तथा जिस दृष्टि से भी इस कल्पना पर विचार करते हैं उतना ही इसकी निस्सारता प्रकट होती है।

इस कल्पना का मूल

महाभारत मीमांसा के पृ ४२८ पर वैद्य जी ने स्वयं लिखा है कि—

खाल्डियन लोगों में एक युग अथवा सृष्टि वर्ष ४३२००० वर्ष का था। हमारा अनुमान है कि उन्हीं के आधार पर इस कल्पना का श्री गणेश हुआ तथाच उसमें चार विन्दु और बढ़ादी गई। तथाच उनकी पुष्टि के लिये युग मन्वन्तर आदि की कल्पना की

गई। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर भारतीय इस विषय में अपना क्या सिद्धान्त रखते थे।

प्राचीन सत्य मान्यता ।

इसके लिये प्राचीन ज्योतिः शास्त्र स्वयं उत्तर देते हैं कि

उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च ।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्णमेन्दूच्चात् ॥

आर्य सिद्धान्त ३। ९

अर्थात् युगका पूर्वार्ध उत्सर्पिणी तथा उत्तरार्ध अवसर्पिणी तथा मध्य भाग सुषमा तथा आदि और अन्तकी सन्धि दुष्मा कहलाती है। यह हिसाब चन्द्रोच्चके भगण मानकर है। अतः उत्सर्पिणी के २१६०००० तथा उतने ही अवसर्पिणी के होते है। इस प्रकार ४३२०००० वर्ष का एक युग हुआ। यही हिसाब चारों युगों के वर्षों के हैं। परंतु उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी शब्द में वैज्ञानिकता है। तथा वृद्धि ह्रास के तात्विक रहस्य का प्रति पादन करता है। इसी भाव के द्योतक सर्ग, प्रति सर्ग शब्द हैं। सर्ग, वृद्धि उन्नति तथा प्रति सर्ग उसके विपरीत क्रिया। इन तात्विक एवं भाव पूर्ण शब्दों को त्याग कर युगोंकी मन्वन्तरोंकी कलिष्ट कल्पना क्यों की गई यह विचारणीय है। जैन ग्रंथों में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी का बहुत विस्तृत काल लिखा है उसपर ज्योतिः शास्त्र के विद्वानों को विचार करना चाहिये।

क्षत्रिय का महत्व

प्रजापतिर्वै क्षत्रम् ।। शतपथ ब्रा० ८।२।३।११

अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा क्षत्रिय था। यही बात यजुर्वेद अ० १४।९ में लिखी है। तथाच—

यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः
पर्जन्यो यमो मृत्यु ईशान इति क्षत्रात्परं नास्ति।

शत० १४।४।२।२३

अर्थात् उपरोक्त जितने भी देव हैं वे सब क्षत्री हैं, इसलिये क्षत्री से उत्तम कोई नहीं है। इसी प्रकार अनेक स्थानों में क्षत्रियों की महिमा शास्त्रों में है। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५ खण्ड ३ में एक कथा आई है, उसमें लिखा है कि एक समय अरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल राज की सभा में गया। वहां उससे कुछ प्रश्न किये उसका उत्तर उसको नहीं आया। पुनः उसने राजा के पास शिष्य होकर उस विद्या को सीखा। वहां लिखा है कि यह ब्रह्म विद्या इससे पूर्व क्षत्रियों की सम्पत्ति थी।

'न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति ।।'

अर्थात् तेरे से पूर्व यह आत्मविद्या किसी भी ब्राह्मण को ज्ञात नहीं है। आज तेरे को ही मैंने यह विद्या सिखलाई है इससे स्पष्ट विदित होता है कि क्षत्रियों का धर्म और ब्राह्मण धर्म पृथक २ थे। ब्राह्मणों का धर्म याज्ञिक धर्म था। क्षत्रियों का धर्म आत्मा का धर्म आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्राप्त करना था। जैनियों के सम्पूर्ण तीर्थंकर क्षत्रिय हुये हैं, अतः यह क्षात्र धर्म था। पीछे ब्राह्मणों ने भी इसको अपना लिया। अतः यहां जो ब्रह्मा को क्षत्रिय कहा है वह ठीक ही है। श्री ऋषभदेव जी भी क्षत्रिय ही थे। इन सब प्रमाणों से श्री ऋषभदेव जी की पुष्टि होती है।

श्री ऋषभदेव जी के सम्बन्ध में प्रमाण

(श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ)

आपके जीवनचरित्र के लिये श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों से भी सामग्री प्राप्त है। उन ग्रन्थों के नाम आदि निम्न प्रकार से हैं—

(१) समवायांग सूत्र—यह ग्रन्थ श्री आगमोदय समिति सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें जहां तहां कुछ कुछ तीर्थंकरों के जीवन का भी प्रकरणवश कथन है।

(२) आवश्यक सूत्र (पूर्व भाग)—यह ग्रन्थ भी सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री ऋषभदेव जी के जीवनचरित्र का विस्तार से वर्णन है। तथा भरत महाराज के जीवन का भी कथन है।

(३) स्थानांग (दूसरा भाग)—यह भी सूरत से मुद्रित हुई है। इसमें कहीं २ थोड़ा सा वर्णन है।

(४) जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति (प्रथम भाग)—यह भी सूरत से प्रकाशित हुआ है। श्री ऋषभदेव जी के विषय में यह ग्रन्थ पठनीय है। इसमें भरत चक्रवर्ती का भी अच्छा कथन है तथा भारतवर्ष का नाम भारतवर्ष श्री भरत चक्रवर्ती के कारण से ही पड़ा यह भी वहां स्पष्ट लिखा है। पृष्ठ १७८ से २८१ तक देखें। जो भाई भारत के नाम को नित्य कहते हैं उन्हें विचार करना चाहिये। इस ग्रन्थ में इक्ष्वाकु वंश की उत्पत्ति का भी कथन है।

(५) कल्पसूत्र—यह ग्रन्थ श्री विनय विजयोपाध्याय जी रचित टीका सहित श्री आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसमें भी ऋषभदेव के विषय में अच्छी सामग्री है।

(६) त्रिषष्ठिशलाका पुरुष-चरित्र—इस विषय का यह ग्रन्थ भी

मौलिक है। इसमें ५००० श्लोकों में श्री ऋषभदेव जी का तथा भरत महाराज का विस्तार पूर्वक वर्णन है। यह मूल ग्रन्थ ३६००० श्लोकों का है तथा जैन-धर्म प्रचारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसका कुछ भाग अङ्गरेजी अनुवाद भी है। ला० मोतीलाल बनारसीदास लाहौर वालों ने अपने यहां छपवाया है—इत्यादि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में आपका जीवन-चरित्र ग्रंथित हुआ है। इनके अलावा अन्य भी काव्य-ग्रन्थ हैं।

❀ निष्कर्ष ❀

कुछ साल पूर्व मैंने जब वैदिक ऋषिवाद नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया था उसी समय मुझे वेदों में से श्री ऋषभदेव जी सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध हुये थे। उसी आधार पर मैंने उसमें इस विषय की सूचना दी थी कि श्री ऋषभदेव जी पर हम एक प्रथक ग्रन्थ लिखेंगे। तथाच उसमें हमने श्री ऋषभदेव जी तथा ब्रह्मा जी एक ही व्यक्ति थे इस पर कुछ प्रकाश डाला था। जब यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो अनेक मित्रों ने आग्रह किया कि मुझे इस विचार पर अधिक लिखना चाहिये। इसके पश्चात् भारत का आदि सम्राट नामक पुस्तक प्रकाशित करके मैंने विद्वानों की सेवा में भेंट की तो श्रीमान् भगवानदास जी केला आदि अनेक विद्वानों ने श्री ऋषभदेव जी का अस्तित्व स्वीकार करते हुये उनके विषय में विशेष जानकारी की इच्छा प्रकट की! इधर मुझे कुछ ऐसे कार्य रहे जिसके कारण मैं इस ग्रन्थ को वास्तविक रूप न दे सका परंतु फिर भी इसको शीघ्र ही प्रकाशित करना आवश्यक समझ कर इसे प्रकाशित कर दिया। संसार में यह सिद्धांत तो सर्वमान्य सा है कि दुनिया में जितने भी धर्म हैं वे सब एक स्रोत

से निकल कर आज पृथक पृथक रूप में दृष्टिगत होरहे हैं। इस स्रोत का उद्गम स्थान भारतवर्ष ही है यह भी आज विद्वानों ने स्वीकार सा कर लिया है। परन्तु भारतवर्ष में भी अनेक मत हैं उनमें कौनसा धर्म सबसे प्राचीन है यह प्रश्न जटिल सा है। क्योंकि सभी धर्म अपने को सबसे पुराना सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जब मैंने इन सभी धर्मों का स्वाध्याय इतिहास की दृष्टि से किया तो मुझे इसमें सच्चाई नजर आई. क्योंकि सभी धर्म स्रोत से निकले हैं, इस बात को सभी धर्मवालों ने स्वीकार किया है। भारतीय वैदिक वाङ्मय में यह स्रोत ब्रह्मा के नाम से सुप्रसिद्ध है। अतः मेरा कार्य केवल इतना रह जाता है कि मैं ब्रह्मा नामक स्रोत का ऐतिहासिक अन्वेषण करूं तथा उन्होंने किन सिद्धान्तों का प्रचार किया था इस पर प्रकाश डालूं। इनमें सबसे पहली बात ब्रह्मा के विषय में है। उनके विषय में निम्न-लिखित बातें निर्विवाद प्रसिद्ध हैं—

(१) युग के आरम्भ में उत्पन्न होना. (२) उनके चार मुखों का होना (३) चार वेदों का बनाना, (४) वह नाभिज थे, (५) उनकी पुत्री का नाम सरस्वती था।

इत्यादि अनेक बातें उनके जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनको शैशव तथा वैष्णवों ने उनको बदनाम करने के लिये लिखी हैं उनसे यहां अभिप्राय नहीं है। मुझे अत्यधिक आश्चर्य हुआ जब मैंने श्री ऋषभदेव जी के जीवन में भी उपरोक्त सभी बातों को मुख्य तौर पर पाया। अर्थात् वे भी–

(१) युगके आदि में हुये। (२) आप भी नाभिज थे (आपके पिता का नाम नाभिराय था (२) आपके भी चार मुख थे। अर्थात लोगों को ऐसा प्रति भासित होता था। (३) आप की चतुर्मुख प्रतिमायें प्राचीन जैनमन्दिरों में अभीतक विद्यमान हैं। (४) आपने

भी चार वेद बनाये (जैनपरिमाण में इन को चार अनु योग भी कहते हैं। (५) आप की पुत्री का नाम ब्राह्मी था। ब्राह्मी तथा सरस्वती एकार्थक शब्द हैं ब्राह्मी तु भारती भाषा गीरवाग् वाणी सरस्वती। अमरकोश। इसी ब्राह्मी को आपने सबसे पहले भाषा तथा लिपी का ज्ञान दिया था और उसीके नामसे आपने इसको प्रसिद्ध भी किया था। आज सबसे पुरानी भाषा तथा लिपी ब्राह्मी ही मानी जाती हैं।

जब मुझे उपरोक्त सभी बातें समान रूपसे मिलगई तो मेरा कौतूहल और भी बढ़ा और मैंने सूत्र के सहारे आगे बढ़ना आरम्भ किया तो मुझे अनेक प्रमाण इस विषयके मिल गये कि श्री ऋषभदेव जी और ब्रह्मा एक ही व्यक्ती हैं। एक अत्यन्त आश्चर्य प्रद है कि श्री ऋषभ देवजी यमज अर्थात् जोडिया उत्पन्न हुंये थे। जैन मान्यता के अनुसार उमयुगका यही नियम था कि प्रत्येक माता के गर्भ से एक बहन भाई का जोडा ही उत्पन्न होता था। तथा वह जोडा ही पति पत्नी का रूप धारण करके पुनः सन्तान उत्पन्न करता था। श्री ऋषभ देवजीने सबसे पहले इस प्रथा को तोडा और उहोंने संसार में विवाह की प्रथा प्रचलित की। यमज होने के कारण आप का नाम यम, तथा आपके साथ उत्पन्न हुई आपकी बहनका नाम 'यमी' था। आपने जिस अहिंसा आदि धर्मों का उपदेश दिया उनका नाम भी यम इसी लिये पड़ा कि वे यम द्वारा प्रचलित किये गये हैं। ऋग्वेद मण्डल १० सू० १० के यम यमी सूक्त में भी इसी बात को प्रकट करने के लिये नाटक रूप में इस सूक्त की रचना की गई है। श्रीमान् महाराष्ट्रीय पण्डित और इतिहास संशोधक महात्यागी सुविज्ञानी विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने भी यही पूर्वोक्त परिणाम निकाला है। इसके सिवा इस सूक्त में अन्य अभिप्राय निकल भी नहीं सकता।

इस सूक्त से श्री ऋषभ देवजी की ऐतिहासिक सिद्धि में

कुछ संशय नहीं रहता। अतः वैदिक साहित्य और जैन शास्त्रों का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'यम' और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति थे। उधर इरानी धर्म पुस्तक (जिन्द अवस्ता) में धर्म तथा सभ्यता का आदि प्रवर्तक मित्र माना गया है तथा उसको प्रथम राजा भी माना गया है। इसी मित्र देवता का नाम उनके यहाँ यम भी लिखा है। अतः जिंद अवस्ता से भी यही बात सिद्ध होती है कि 'यम' धर्म के आदि प्रवर्तक थे। यम और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति के नाम हैं यह हमने इसमें सिद्ध कर दिया है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें श्री ऋषभदेव जी को प्रथम राजा तथा प्रथम तीर्थंकर अर्थात् धर्म प्रवर्तक कहा है और जैन सूर्य प्रज्ञप्ति में भी यही माना गया है। अतः जींद अवस्था, वेद, और जैनशास्त्र सभी इस विषय में एक मत हैं। वैदिक प्रमाणों के अर्थ विषयक एक बात यहाँ स्पष्ट कर देनी आवश्यक है, कि जहाँ जहां ऋषभ, वृषभ आदि शब्द आये हैं हमने प्रकरणानुकूल उन शब्दों का मनुष्य परक अर्थ किया है, परंतु अन्य विद्वान ऋषभ, और वृषभ आदि शब्दों को किसी देवता का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। हमने इन शब्दों को विशेष्यरूप माना है तथा अन्य विद्वानों के अर्थों में यही अतंर है। हमारे विचार से यदि हम पूर्व संस्कार दोष से मुक्त होकर ध्यान दें तो हमारा अर्थ (उन विद्वानों को भी) सुसंगत एवं युक्ति युक्त प्रतीत होगा। यदि कोई महानुभाव निस्पक्ष विचार भावना से इस विषय में जानना चाहेंगे उनको पूरा अवसर भी दिया जासकता है। हम भी इस विषयमें अधिक विचार वैदिक इतिहासवाद नामक पुस्तक में करेंगे। इस प्रकार इस ग्रंथमें यह सिद्ध किया गया है कि ऋषभदेवजी (ब्रह्मा) धर्म के आदि प्रवर्तक थे। वैदिक वांगमय के साथ २ ऋषभदेवजी के सम्बंध में प्राप्त होनेवाली ऐतिहासिक सामग्री का भी समावेश कर दिया है।